जैनधर्म की कहानियाँ

भाग ९

तीर्थंकर भगवान महावीर

ब्र. हरिलाल जैन

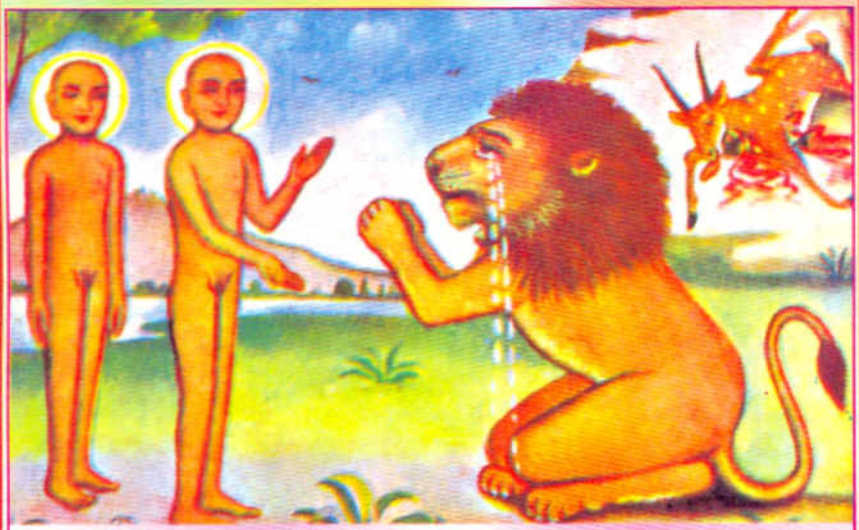

भगवान महावीर का जीव दस भव पूर्व जब सिंह था,
तब चारणऋद्धिधारी मुनिराजों के सम्बोधन से सम्यग्दर्शन
प्राप्त कर मुनिराजों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है ।

प्रकाशक

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़

कहान स्मृति प्रकाशन, सोनगढ़

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का १४ वाँ पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग – 9)

लेखक :

ब्र. हरिभाई सोनगढ़

सम्पादक :

पण्डित राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

महावीर चौक, खैरागढ़ – ४९१ ८८१ (मध्यप्रदेश)

और

श्री कहान स्मृति प्रकाशन

सन्त सान्निध्य, सोनगढ़ – ३६४२५० (सौराष्ट्र)

प्रथम दो संस्करण - 12000 प्रतियाँ
तृतीय संस्करण - 3200 प्रतियाँ
(1 जनवरी, 05)

कुल - 15200 प्रतियाँ
न्यौछावर - सात रुपये मात्र
दस रुपये मात्र

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्राप्ति स्थान

अखिलभारतीय जैन युवा फैडरेशन
श्री खेमराज प्रेमचंद जैन,
'कहान-निकेतन'
खैरागढ़–४९१८८१,
जि.राजनाँदगाँव (३६गढ़)

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर,
जयपुर – ३०२०१५ (राज.)

ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन
'कहान रश्मि',
सोनगढ़ - ३६४२५०
जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

टाईप सेटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था –
जैन कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015
फोन : 0141-2700751
फैक्स : 0141-2709865

साहित्य प्रकाशन फण्ड

१००१/- रु. देने वाले –
ज्योत्सनाबेन विजयकान्त शाह, अमेरिका

५०१/- रु. देने वाले –
दमयन्तीबेन हरीलाल शाह, ह.मधुभाई मुम्बई
पुष्पाबेन गोपालजी, दिल्ली

३०१/- रु. देने वाले –
सौ.चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, ह.अभय खैरागढ़

२५१/- रु. देने वाले –
झनकारीबाई खेमराज बाफना चे. ट्रस्ट, खैरागढ़
ब्र. ताराबेन मैनाबेन, सोनगढ़
रीटाबेन रश्मिभाई शाह, मुम्बई

२०१/- रु. देने वाले –
श्री महेन्द्रकुमार अशोककुमार, सिवनी
श्री विमलचन्द शरद कुमार जी, डोंगरगढ़
श्री रमेशचन्द शादरे, नागपुर
सौ.कंचनदेवी दुलीचन्द जैन, ह.कमलेश खैरागढ़
श्रीमती ढेलाबाई, ह. मोतीलाल जैन, खैरागढ़
श्री घेवरचन्द राजेन्द्र कु.ढाकलिया, राजनांदगाँव
श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार जैन, जयपुर
श्री निलेश शामजी शाह, गोरेगॉव
श्री विपुल शामजी शाह, गोरेगॉव
श्रद्धा पूजा सतीश शाह, मलाड
श्री ऋषभ-रुचि-चन्द्रकान्त कामदार, राजकोट
अनुभूति-विभूति अतुल जैन, मलाड
श्री पन्नालाल उमेशकुमार छाजेड़, खैरागढ़
श्रीमती माधुरी-मनोजकुमार गिड़िया, खैरागढ़

१५१/- रु. देने वाले –
सौ. सुवर्णा प्रदीप कुमार जैन, खैरागढ़

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर, १९८० को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परमशिरोमणि संरक्षक सदस्य २१००१/- में, संरक्षक शिरोमणि सदस्य ११००१/- में तथा परमसंरक्षक सदस्य ५००१/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा।

तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२,१३,१४,१५,१६ एवं अनुपम संकलन (लघु जिनवाणी संग्रह), चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़दोहा-भव्यामृत शतक, आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट तथा अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स) – इसप्रकार चौबीस पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं।

जैनधर्म की कहानियाँ भाग ९ के रूप में ब्र. हरिभाई सोनगढ़ द्वारा लिखित चौबीसी पुराण में समागत श्री महावीर प्रभु के जीवन चरित्र का वर्णन प्रकाशित किया जा रहा है। सम्पादन पण्डित राकेश जैन शास्त्री, नागपुर ने किया है। प्रूफ संशोधन पण्डित रमेशचंद जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम इन सभी के आभारी हैं।

आशा है श्री महावीर प्रभु के जीवन चरित्र का वर्णन पढ़कर पाठकगण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

जैन बाल साहित्य अधिक से अधिक संख्या में प्रकाशित हो – ऐसी भावी योजना है। इसी के अर्न्तगत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग-१७ भी शीघ्र आ रहा है।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला परमशिरोमणि संरक्षक, शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत :

मोतीलाल जैन	प्रेमचन्द जैन
अध्यक्ष	**साहित्य प्रकाशन प्रमुख**

आवश्यक सूचना

पुस्तक प्राप्ति अथवा सहयोग हेतु राशि ड्राफ्ट द्वारा
''अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़'' के नाम से भेजें।
हमारा बैंक खाता स्टेट बैंक आफ इण्डिया की खैरागढ़ शाखा में है।

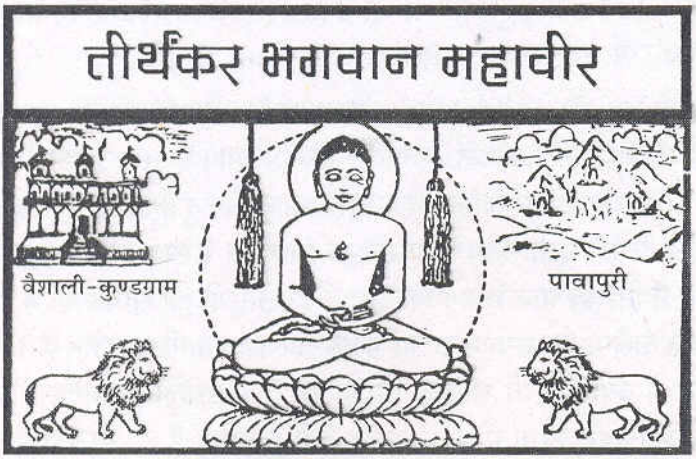

मंगल-वन्दना

सुर-असुर-नरपतिवंद्य को, प्रविनष्ट घाती कर्म को।
करता नमन मैं धर्मकर्ता, तीर्थ श्री महावीर को ।।

जो सर्वज्ञ हैं, वीतरागी हैं, हितोपदेशी हैं और वर्तमान में जिनका धर्मतीर्थ चल रहा है – ऐसे असाधारण गुणवन्त तीर्थंकर भगवान महावीर को मैं वन्दन करता हूँ।

वे भगवान महावीर जिसका आराधन करके सर्वज्ञ हुए और जिसकी आराधना का भव्यजीवों को उपदेश दिया, ऐसे शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मैं नमस्कार करता हूँ और उसकी पूर्णता की भावना भाता हूँ। अहो ! ये रत्नत्रय मुमुक्षु के सर्व अर्थ को सिद्ध करनेवाले अमूल्य रत्न हैं।

अहो ! आत्मतत्त्व का अद्भुतपन बतानेवाला तथा अनेकान्त धर्म के ध्वज से सुशोभित जिनशासन जयवन्त वर्तो....जो कि पर से भिन्न आत्मतत्त्व का अद्भुत स्वरूप बतलाकर इष्ट की सिद्धि करता है और मिथ्यादृष्टि जिसका पार नहीं पा सकते।

'श्री महावीर प्रभु मंगलमय हैं।' ऋषभादि तेईस भगवन्त, सीमन्धरादि बीस विद्यमान भगवन्त और भूत-भविष्यत इत्यादि त्रिकालवर्ती सर्व अरहन्त, सिद्ध, पंचपरमेष्ठी, रत्नत्रय, जिनवाणी, राजगृही आदि सर्वतीर्थ – ये सब मंगल, एक 'मंगलमय महावीर' में समा जाते हैं; इसलिये महावीर प्रभु के मंगल गुणगान में

अभेदरूप से उन सबका गुणगान भी आ जाता है। इससमय अपना चित्त महावीरमय है; महावीर में सर्व इष्ट पदं आ जाते हैं।

अहो महावीर देव ! आपके सर्वज्ञता आदि अगाध गुणों की गम्भीरता के निकट मेरी बुद्धि तो अत्यन्त अल्प है; तथापि आपके परम उपकारों से प्रेरित होकर भक्तिपूर्वक आपके जीवन का आलेखन करने हेतु मैं उद्यमी हुआ हूँ। अल्प होने पर भी मेरी बुद्धि आपके शासन के प्रताप से सम्यक्पने को प्राप्त हुई है; इसलिये मैं नि:शंकभाव से आपके अगाध आत्मगुणों का स्तवन करके जगत में प्रकाशित करूँगा। मोक्षगमन के ढाई हजार वर्ष पश्चात् भी आप हम जैसे साधकों के हृदय में ज्यों के त्यों साक्षात् विराज रहे हैं....इसलिये आपके जीवन का सम्यक् आलेखन करना मेरे लिये दुष्कर नहीं है, सुगम है....आनन्दकारी है। हे भव्य साधर्मीजनो ! तुम भी ज्ञान में सर्वज्ञ महावीर को साक्षात् विराजमान करके उन्हें चेतनस्वरूप में जानना, उससे तुम्हें भी महान आत्मिक आनन्द का अपूर्व लाभ होगा।

प्रभो ! आपके गुणों के वर्णन की धुन में मैं शाब्दिक क्षति की अपेक्षा नहीं करता। अहा ! आपके गुणवाचक जो शब्द होंगे, वे सुन्दर होंगे। पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी यदि सोना बन जाता है, तो आप जैसे उत्कृष्ट परमात्मा के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने से क्या शब्द पूज्य नहीं बन जायेंगे ? **अरे ! स्थापना निक्षेप से जब परमात्मा के साथ सम्बन्ध करते हैं, तब पत्थर भी परमात्मा के रूप में पूजे जाते हैं, तब जो शब्द आपके परमगुणों के वाचक होकर आपके साथ सम्बन्ध करते हैं, वे शब्द यदि जगत में परमागम के रूप में पूजे जाएँ, तो उसमें क्या आश्चर्य ! मेरा लक्ष्य आपके आत्मिक गुणों पर है, शब्दों पर मेरा लक्ष्य नहीं है। आपके सर्वज्ञतादि गुणों का रसिक मेरा मन, इससमय आपके गुणों के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं लगता। बस ! आपके वीतरागी आत्मगुणों में मेरे चित्त की तल्लीनता ही मेरा मंगल है।**

भगवान महावीर के पूर्वभव : सम्यक्त्व से पूर्व

हे महावीर प्रभु ! वर्तमान में तो आप मुक्तरूप से परमसुख की अनुभूति में लीन होकर सिद्धपुरी में विराजमान हैं। हम जहाँ से आपको जानते हैं, वहाँ मोक्ष से पूर्व की आपकी भवावलि भी दृष्टिगोचर होती है। मोक्ष प्राप्त करने से पूर्व इस

संसार की चारों गतियों में आपके जीव ने कैसे-कैसे दु:ख सहन किये और पश्चात् जैन मुनिवरों के सम्पर्क में धर्म प्राप्त करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना द्वारा आप इस भवचक्र से छूटे तथा मोक्षपुरी में पधारे। वह सब चित्रपट की भाँति दृष्टिसमक्ष तैरता है। अहा ! आत्मसाधना में आपकी महान वीरता....हमें भी उस साधना के प्रति उत्साहित करती है। प्रभो ! भव से छूटकर मुक्त कैसे होना ? दु:ख से छूटकर सुखी कैसे होना ? वह मार्ग आपने अपने जीवन चरित्र द्वारा हमें स्पष्ट बतलाया है; इसलिये पुरुरवा भील से लेकर मोक्ष तक के आपके जीवन-प्रसंगों का वैराग्यरस पूरित आलेखन भव्यजीवों के हितार्थ एवं अपने आत्मा के गुणों की वृद्धि हेतु प्रारम्भ करता हूँ।

पूर्वभव : पुरुरवा भील

भगवान महावीर का जीव अपने पूर्वभव में पहले पुरुरवा नाम का भील था; तब एकबार विदेहक्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में धर्मात्मा श्रावकों का संघ तीर्थयात्रा हेतु जा रहा था। सागरसेन नाम के मुनिराज भी उस संघ के साथ चल रहे थे। संघ जब जंगल के मार्ग से जा रहा था। तब डाकुओं की टोली ने उसे लूट लिया। संघ के लोग इधर-उधर भाग गये। मुनिराज सागरसेन संघ से पृथक् हो गये और घोर जंगल में किधर जायें यह उन्हें नहीं सूझ रहा था। इतने में भील सरदार पुरुरवा ने उन्हें देखा और मुनिराज को मारने के लिये धनुष पर बाण चढ़ाने लगा; तब भील सरदार की भद्र पत्नी ने उसे रोका और बोली – ठहरो स्वामी ! यह कोई सामान्य शिकार नहीं है। इनकी तेजस्वी मुद्रा से तो ये कोई वनदेवता लगते हैं; या फिर ऐसा लगता है कि ये वन में मार्ग भूल गये हैं। चलो, उनके पास चल कर देखें। यह सुनकर क्रूर भील ने क्षणभर में क्रूरता छोड़ दी। उसने मुनिराज के निकट जाकर विनयपूर्वक वन्दन किया और मार्ग भूले हुए मुनिराज को वन में से बाहर निकलने का मार्ग बतलाया।

मुनिराज ने उसकी भद्रता से प्रभावित होकर कहा – "हे भव्य ! तू अहिंसाधर्म को उत्तम जानकर उसका पालन कर। निर्दोष प्राणियों का घात करनेवाली यह क्रूरता तुझे शोभा नहीं देती; इसलिये यह शिकार एवं मांस भक्षण छोड़कर अहिंसाधर्म का सेवन कर, जिससे तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा। मांस के स्वाद की लोलुपतावश निर्दोष जीवों का वध करना वह तो महापाप है। मनुष्यभव पाकर

ऐसा पाप करना तुझे शोभा नहीं देता। इसलिये तू इसे शीघ्र छोड़ दे।'' इसप्रकार मुनिराज ने उसे अत्यन्त करुणापूर्वक हितोपदेश दिया। मुनिराज का कल्याणकारी उपदेश सुनकर वह भील अतिप्रभावित हुआ और उसने शिकार तथा मांसाहार का त्याग करके अहिंसाधर्म धारण किया। **अहा ! साधु पुरुषों की क्षणभर की संगति भी जीवों को कितनी हितकारी होती है।** वीतरागी सन्तों की संगति से किसे शान्ति नहीं मिलेगी? अहो ! भवदुःख से संतप्त संसारी जीव की तृषा शान्त करने के लिये जैनदर्शन तो शान्तरस के सरोवर समान है, उसका सेवन करो।

श्री मुनिराज के प्रताप से जिसने क्रूरता छोड़ दी है, ऐसा वह पुरुरवा भील भक्तिपूर्वक बहुत दूर तक मुनिराज के साथ चलता रहा और उन्हें नगर के मार्ग पर छोड़ कर लौट आया। अव्यक्त रूप से मानों वह कह रहा था कि प्रभो ! आपने तो मुझे भववन में से बाहर निकलने के लिये हितोपदेश दिया तो क्या मैं आपकी इतनी सेवा भी नहीं कर सकता ?

बस, मुनिराज से पृथक् होकर अपने निवास स्थान पर पहुँचे उस भील को अब कहीं चैन नहीं पड़ता था। अब उसने लूटपाट छोड़ दी थी और जंगल में भटके हुए पथिकों की रक्षा करके उनको मार्ग बतलाता था। वह सोचता था कि अरे ! मुझमें कितनी क्रूरता थी और वे मुनिराज कितने शान्त परिणामी थे। **उनके क्षणभर के संग से मेरा जीवन बदल गया।** अब मुझे कितनी शान्ति मिल रही है – इसप्रकार वह बारम्बार विचारता था; शान्ति की शीतलता उसे तृप्त करती थी। इसप्रकार उसने शेष जीवन स्थूल अहिंसाव्रत के पालन में व्यतीत किया और अन्त में मरकर वह भील सौधर्मस्वर्ग में देव हुआ।

पूर्वभव : सौधर्मस्वर्ग में देव

कहाँ क्रूर भील ? और कहाँ देव ? किंचित् अहिंसा का पालन करके भील से देव हुए उस जीव को सौधर्मस्वर्ग में अनेक दिव्य ऋद्धियाँ प्राप्त हुईं और दो सागरोपम (असंख्यात वर्ष) तक पुण्यफल का उपभोग किया। अहा ! क्षणभर की किंचित् अहिंसा के पालन से एक अज्ञानी को भी असंख्य वर्षों का पुण्यफल प्राप्त हुआ, तो **ज्ञानपूर्वक सर्वथा वीतरागी अहिंसा के उत्तम फल का तो कहना ही क्या ?** अज्ञानभाव से पुण्य करके स्वर्ग में गये उस देव ने वहाँ की

देवांगनाओं के साथ क्रीड़ा एवं वैभव-विलास में असंख्य वर्ष व्यतीत कर दिये....अभी उसे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। स्वर्ग में उसे अवधिज्ञान था, **परन्तु आत्मज्ञान के बिना अवधिज्ञान का क्या मूल्य?** अज्ञानपूर्वक पुण्यफल के उपभोग में उसने स्वर्ग में असंख्य वर्ष बिता दिये और आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग से चयकर मनुष्य लोक में अवतरित हुआ।

पूर्वभव : ऋषभदेव का पौत्र मरीचिकुमार

सौधर्म स्वर्ग से चलकर भूतकाल का वह भील और भविष्य काल का भगवान – ऐसा वह जीव एक अति सुन्दर प्रसिद्ध नगरी में तीर्थंकर के कुल में अवतरित हुआ....कहाँ अवतरित हुआ ? वह पढ़िये –

तीर्थरूप अयोध्या नगरी में देवों ने ऋषभदेव भगवान के गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों का आश्चर्यकारी महोत्सव मनाया था। उन ऋषभराजा के दो रानियाँ तथा भरत, बाहुबलि आदि सौ पुत्र थे; उनमें से ज्येष्ठ पुत्र भरत तीन ज्ञान के धारी, क्षायिक सम्यग्दृष्टि तथा चरमशरीरी और भरतक्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती थे। अपने चरित्र नायक का जीव सौधर्म स्वर्ग से चयकर इन्हीं भरत चक्रवती का पुत्र हुआ। उसका नाम मरीचिकुमार था। अहा ! भरतक्षेत्र के भावी चौबीसवें तीर्थंकर का जीव वर्तमान में प्रथम तीर्थंकर का पौत्र हुआ। तीर्थंकर का पौत्र और चक्रवर्ती का पुत्र.... उसके गौरव का क्या कहना ? पुरुरवा भील का जीव भगवान पुरुदेव का पौत्र हुआ। (ऋषभदेव का एक नाम पुरुदेव भी है)

दादा को पौत्र पर और पौत्र को दादाजी पर अत्यन्त प्रेम था – दोनों आत्मा तीर्थंकर होने वाले थे। दादा ऋषभदेव अपने पौत्र को गोद में लेकर खिलाते और बोलना सिखाते कि बोलो बेटा – '**अप्पा सो परमप्पा**' और बालक मरीचि तोतली भाषा में 'अप्पा-पप्पा' बोलकर दादाजी का अनुसरण करता। वाह ! आदि तीर्थंकर अन्तिम तीर्थंकर को खिलाते होंगे ?.... वह दृश्य कितना आनन्ददायी होगा ? – बहुत ही....देखने योग्य।

एकबार चैत्र कृष्णा नौवीं को महाराजा ऋषभदेव के जन्म दिवस पर हजारों राजाओं के बीच इन्द्र अनेक देव-देवियों सहित जन्मोत्सव मना रहा था; नीलांजना नाम की देवी नृत्य कर रही थी कि अचानक ही उसकी आयु पूर्ण हो जाने से वह देवी अदृश्य हो गई। संसार की ऐसी क्षणभंगुरता देखकर महाराजा ऋषभदेव ने

जिनदीक्षा ले ली। भगवान ऋषभदेव के प्रति परमस्नेह के कारण चार हजार राजाओं ने भी उनका अनुसरण किया तथा दादाजी के साथ उनका पौत्र मरीचिकुमार भी अविचारी रूप से दिगम्बर साधु बन गया। अन्तर में चैतन्यतत्त्व की प्रतीति तो थी नहीं; भगवान ऋषभदेव मुनि बनकर किसका ध्यान कर रहे हैं, वह भी नहीं जानता था। ऋषभ मुनिराज तो छह मास तक चैतन्य के ध्यान में लीन होकर ज्यों के त्यों खड़े रहे; परन्तु मरीचि आदि द्रव्यलिंगी साधु दीर्घकाल तक भूख-प्यास सहन नहीं कर सके, इसलिये मुनिमार्ग से भ्रष्ट होकर ज्यों-त्यों वर्तने लगे।

अहा ! जैनधर्म का मुनिमार्ग तो मोक्ष का मार्ग है। कायर जीव उसका पालन कैसे कर सकते थे ? भगवान ऋषभदेव को मुनि होने के एक हजार वर्ष पश्चात् केवलज्ञान हुआ। जिस दिन भगवान ऋषभदेव मुनि को केवलज्ञान हुआ, उसी दिन महाराजा भरत के यहाँ चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। पिता धर्मचक्री बने और पुत्र राजचक्री हुआ। भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती एक ही दिन प्रगट हुए। विवेकी भरत राजा अपने चक्र को एक ओर रखकर प्रथम धर्मचक्री सर्वज्ञपिता का केवलज्ञान-महोत्सव मनाने हेतु समवसरण में आये। वहाँ धर्मपिता के दिव्य आत्मवैभव को देखकर तथा चैतन्यतत्त्व की अलौकिकता सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने भगवान से पूछा – हे देव ! हमारे कुल में आप तीर्थंकर हुए; तो आप जैसा तीर्थंकर होनेवाला दूसरा कोई उत्तम पुरुष इस समय मेरे परिवार में है ?

तब प्रभु की दिव्यध्वनि में उत्तर मिला कि हे भरत ! तुम और तुम्हारे सब पुत्र मोक्षगामी हैं; ...और तुम्हारा यह पुत्र मरीचिकुमार तो भरतक्षेत्र की इस चौबीसी में अन्तिम तीर्थंकर (महावीर) होगा।

यह सुनकर भरत को अति हर्ष हुआ कि अहा, मेरे पिता आदि-तीर्थंकर और मेरा पुत्र अन्तिम तीर्थंकर तथा मैं भी इसी भव में मोक्षगामी – इसप्रकार भरतराजा की प्रसन्नता से चारों ओर आनन्दमय उत्सव का वातावरण छा गया। प्रभु की वाणी में अन्य विकल्प को अवकाश नहीं है। अरे ! प्रभु की वाणी में अपने तीर्थंकर होने की बात सुनकर भी उस मरीचि ने सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया और भव के कारणरूप मिथ्यात्व को नहीं छोड़ा; वह कुमार्ग में ही लगा रहा।....

वाह री होनहार ! मुनिवेश छोड़कर भ्रष्ट हुए मरीचि ने तापस का वेश धारण

करके सांख्यमत का प्रवर्तन किया। उस मूर्ख जीव ने कुतर्क द्वारा कुमार्ग चलाया और मिथ्यामार्ग के सेवन से अपने आत्मा को असंख्यात भवतक घोर संसार-दुःखों में डुबोया। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि –

''अरे जीवो ! मिथ्यात्व का पाप मेरु समान है; उसके समक्ष अन्य पाप तो राई जैसे हैं; – ऐसा जानकर प्राण जायें तथापि मिथ्यात्व का सेवन मत करना। सिंह, सर्पादि के विष से तो एकबार मरण होता है, परन्तु कुमार्ग के सेवन से तो जीव भव-भव में अपार दुःख भोगता है। इसलिये हे भव्यजीवो ! भयंकर भवदुःखों से छूटने की तथा शाश्वत आत्मसुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो तुम शीघ्र कुमार्गरूप मिथ्यात्व को छोड़ो और जिनमार्ग के सेवन द्वारा सम्यक्त्व को अंगीकार करो।''

पूर्वभव : पाँचवें स्वर्ग में देव

अरे रे ! तीर्थंकर का कुल और बाह्य में जिनदीक्षा प्राप्त करके भी उस मरीचि ने सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया, आत्मज्ञान नहीं किया और मिथ्यात्वसहित कुतप के प्रभाव से मरकर पाँचवें स्वर्ग में देव हुआ। मिथ्यात्वसहित होने के कारण स्वर्ग में उसके परिणाम कुटिल थे। स्वर्ग के दिव्य वैभव में भी उसे सुख नहीं मिला। कहाँ से मिलता ? सुख विषयों में कहाँ है ? सुख तो आत्मा में है; उसे जाने बिना सुख का वेदन कहाँ से होगा ? दस सागरोपम जितने असंख्य वर्षों तक वह जीव स्वर्ग में रहा और अनेक देवांगनाओं सहित स्वर्ग के दिव्य इन्द्रियभोग भोगे; परन्तु उससे क्या ? **स्वर्गीय सुख दूसरी वस्तु है और आत्मिक शान्ति दूसरी।** मूर्ख जीव ही शान्तिरहित स्वर्गीय सुखों को सच्चा सुख मानते है। आत्मिक शान्ति का अनुभव करनेवाले धर्मात्मा बाह्य विषयों में कदापि सुख की कल्पना नहीं करते – फिर भले ही वे सुख स्वर्ग के ही क्यों न हों ?

पूर्वभव : ब्राह्मणकुमार प्रियमित्र और प्रथम स्वर्ग में देव

असंख्य वर्षों तक स्वर्गलोक में रहकर भी लेशमात्र आत्मसुख का आस्वादन किये बिना अन्त में वह जीव (भूतकाल का मरीचि और भविष्य के महावीर) वहाँ से च्युत हुआ। संसार तो संसरणरूप है, इसलिये वह संसारी जीव देवगति से संसरित होकर मनुष्यगति में एक ब्राह्मण का पुत्र हुआ; उसका नाम था प्रियमित्र। पूर्वभव के मिथ्या संस्कारवश अब भी वह मिथ्यामार्ग में प्रवर्तता था। मिथ्यातप

के क्लेशपूर्वक मरकर वह जीव प्रथमस्वर्ग में देव हुआ। अपने हिताहित के विवेकरहित वह देव स्वर्ग में भी सुखी नहीं था। दो सागर तक देवोपनीत भोगों में ही काल गँवाकर, भोगों की लालसासहित वह स्वर्ग से मनुष्यलोक में गिरा। 'अरे रे ! असंख्यात वर्षों तक भोगे हुए यह दिव्य भोग अब छूट जायेंगे। – ऐसे शोक से संतप्त आर्तध्यानपूर्वक वह देवलोक से च्युत हुआ।

पूर्वभव : ब्राह्मणकुमार पुष्पमित्र और दूसरे स्वर्ग में देव

प्रथम स्वर्ग से च्युत हुआ वह जीव इस भारतवर्ष के स्थूणागार नगर में एक ब्राह्मणपुत्र हुआ, उसका नाम था पुष्पमित्र। बालक पुष्पमित्र एकबार खेल रहा था कि एक संन्यासी-बाबा ने उसे लालच दिखाया कि 'तू हमारे साथ चल, तुझे स्वर्ग का सुख मिलेगा।' स्वर्ग-मोक्ष का भेद नहीं जाननेवाले उस अविवेकी बालक ने स्वर्ग के लालच से बाल्यावस्था में ही कुतप धारण किया; (**भोगहेतु धर्म को, नहिं कर्मक्षय के हेतु को।**) अरे रे ! एक भावी तीर्थंकर का आत्मा भी मिथ्यामार्ग के संस्कारवश कुमार्ग में फँसकर संसार में कैसा भटक रहा है ? दीर्घकाल तक मिथ्यात्वसहित कुतप का क्लेश सहन करके वह मरा और दूसरे ईशान स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ उसने अप्सराओं द्वारा होनेवाले नृत्य-गानादि देखने में दीर्घकाल गँवाया। धर्मरहित हीनपुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग ने उसे च्युत कर दिया। **जिसप्रकार सोते हुए महावत को मदोन्मत्त हाथी पछाड़ देता है, उसीप्रकार मोहनिद्रा में सोते हुए उस देव को पुण्यरूपी हाथी ने नीचे पछाड़ दिया।**

पूर्वभव : अग्निसह ब्राह्मण और तीसरे स्वर्ग में देव

दूसरे स्वर्ग से च्युत हुआ वह देव, श्वेतिकानगरी में अग्निसह नाम का ब्राह्मणपुत्र हुआ; वहाँ भी पूर्वभव के मिथ्या संस्कार के कारण संन्यासी होकर मिथ्यातप का आचरण करके जीवन बिताया और पुन: तीसरे स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ सात सागर की आयु अप्सराओं के साथ व्यतीत कर दी; परन्तु आत्महित किंचित् नहीं साधा।

अरे रे ! जैनधर्म को प्राप्त नहीं हुआ वह जीव, भावी तीर्थंकर होने पर भी, अज्ञान के कारण संसार की गतियों में कैसा भटक रहा है ? क्षण में मनुष्यलोक और क्षण में स्वर्गलोक में जाता है। पुण्य कर-करके बारम्बार स्वर्ग में जाने पर

भी उस जीव को कहीं शान्ति नहीं है, कहीं उसके आत्मा को आराम नहीं है। अहा ! जब जीव जैनमार्ग को प्राप्त कर ले, तभी उसे सुख-शान्ति मिलती है; इसलिये हे जीवो ! तुम जैनमार्ग पाकर महान आदरपूर्वक उसका सेवन करो।

पूर्वभव : अग्निमित्र ब्राह्मण और चौथे स्वर्ग में देव

तीसरे स्वर्ग से निकलकर 'भील' और 'भगवान' का वह जीव भरतक्षेत्र की मन्दिर नगरी में एक अग्निमित्र नाम का ब्राह्मण-पुत्र हुआ। उसके काले केश मानों अन्तर की मिथ्यात्वरूपी कालिमा सूचित करते हों – इसप्रकार फर-फर होते थे। युवावस्था में गृहवास छोड़कर वह पुन: संन्यासी होकर तीव्र तप करते हुए मिथ्यामार्ग का उपदेश देने लगा।

दीर्घकाल तक कुमार्ग का प्रवर्तन करके अन्त में असमाधिमरणपूर्वक मरकर वह चौथे माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ। असंख्य वर्षों तक स्वर्गलोक की विभूतियों को पुण्यफल में भोगा, **परन्तु अन्त में जिसप्रकार सूखा पत्ता डाल से खिर पड़ता है, तदनुसार पुण्य सूख जाने पर वह स्वर्गलोक से खिर पड़ा।**

पूर्वभव : भारद्वाज ब्राह्मण और पुन: चौथे स्वर्ग में देव

चौथे स्वर्ग से च्युत होकर वह जीव स्वस्तिमती नगरी में भारद्वाज नाम का ब्राह्मण हुआ और पुन: गतजन्म की भाँति संन्यासी होकर कुतप में जीवन गँवाकर चौथे स्वर्ग में गया। स्वर्गलोक की अनेक ऋद्धियाँ तथा देवांगनाओं आदि के वैभव में आसक्तिपूर्वक असंख्यात वर्ष का जीवन बिता दिया और जब आयु पूर्ण होने को आयी तब उसके कल्पवृक्ष काँपने लगे, उसकी मन्दार मालाएँ मुरझाने लगीं, उसकी दृष्टि भ्रमित होने लगी, शरीर की कान्ति निस्तेज होने लगी। ऐसे चिन्हों से उसे विचार आने लगा कि अब स्वर्ग की यह सब विभूति छोड़कर मुझे यहाँ से जाना पड़ेगा। देवियों के विरह से वह विलाप करने लगा ? **अरे रे ! देखो तो सही, जिसने बाह्य वस्तुओं में सुख माना वह उनके वियोग में कैसा विह्वल होता है। अरे मूर्ख ! विचार तो कर कि असंख्यात वर्षों तक जिन बाह्य विषयों के बीच रहकर उनका उपभोग करने पर भी तुझे शान्ति या तृप्ति नहीं हुई उनमें सुख कैसा ?** सुख हो तो मिले न ?...आकुलित होकर मिथ्या प्रयत्न किसलिये करता है ? अनन्तकाल तक भोगने पर भी विषयों में से कदापि सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

जिसका आशाचक्र टूट गया है, जिसका पुण्यदीपक बुझ जाने की तैयारी में है और जिसके मानसिक संताप का कोई पार नहीं है – ऐसा वह देव मरण को निकट देखकर अत्यन्त भयभीत हुआ और हताशापूर्वक भोगों की चिन्ता में आर्तध्यान करने लगा कि अरे रे ! मैं असहायरूप से यह सब छोड़कर मर जाऊँगा ? मैं अब किसकी शरण लूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसप्रकार इन भोगों की रक्षा करूँ ? क्या उपाय करके मृत्यु को रोकूँ ? यहाँ से मरकर मैं न जाने किस गति में जाऊँगा ? ...वहाँ मेरा क्या होगा ?...कौन साथ देगा ? वास्तव में पुण्य समाप्त होने पर कोई साथ नहीं देता। देवांगनाएँ देखती रहीं और देव के प्राण छूट गये।

इसप्रकार विलाप करता हुआ वह देव 'क्षीण पुण्य से मनुष्यलोक में' आ पड़ा और अनेक भवों में भटकता फिरा।

पूर्वभव : एकेन्द्रियादि पर्यायों में असंख्यभवों का अनन्तदु:ख

जिसके नीच पुण्य का अस्त हुआ है और जो मिथ्यात्व की आग में जल रहा है ऐसा वह भील का जीव (भावी महावीर भगवान का जीव) बारम्बार स्वर्ग-मनुष्य के भवों में भ्रमण करता हुआ तथा दु:ख भोगता हुआ संसार में भटक रहा है। वह स्वर्ग से भ्रष्ट होकर कितनी ही निचली त्रस पर्यायों में भटका; अन्त में मिथ्यात्व-रस की पराकाष्ठा के फलस्वरूप स्थावर-एकेन्द्रिय पर्याय में गया और वहाँ दो घड़ी में हजारों बार जन्म-मरण कर-करके दु:खी हुआ। इसप्रकार असंख्यात बार भवभ्रमण कर-करके उसने कल्पनातीत दु:ख सहन किये। **सिद्ध भगवन्तों का सुख और एकेन्द्रिय जीवों का दु:ख – ये दोनों वचनातीत** हैं। दीर्घकाल तक उस जीव ने स्थावर पर्यायों में इतने अधिक दु:ख भोगे कि जिनका वर्णन शास्त्रकार भी नहीं कर सकते। **जिसप्रकार सिद्धों का सुख किन्हीं संयोगों से नहीं होता, यह 'स्वभावसिद्ध' है; उसीप्रकार निगोद के जीवों का दु:ख भी संयोग से नहीं हुआ है, परन्तु भावकलंक की प्रचुरतारूप उनके अपने परिणाम से हुआ है, इसलिये 'परिणामसिद्ध' है।**

किसी मनुष्य को धधकती हुई अग्नि में डालकर लौहरस के साथ गला दे, वह दु:ख भी जिसके समक्ष अत्यल्प माना जाय ऐसे घोरातिघोर दु:ख निगोद में एकेन्द्रिय जीवों को होते हैं। ऐसे दु:ख उस जीव ने मिथ्यात्व के कारण अनेक भवों तक भोगे।

तथापि देखो तो सही, चेतन के स्वभाव की अद्भुतता.... कि ऐसे दु:खों के बीच भी अपने चैतन्यस्वभाव को उसने नहीं छोड़ा; **स्वयं अपने चेतनप्राण द्वारा वह जीता ही रहा।** तथा अनन्तदु:ख भोगने पर भी अपने सुखस्वभाव को नहीं छोड़ा.. इसीलिये तो दु:ख से परिमुक्त होकर वही जीव आज अनन्त सुख सहित सिद्धपद में विराजमान है..**वाह रे वाह चैतन्य ! तेरा स्वभाव ! वास्तव में अद्भुत है।**

निजभाव को छोड़े नहीं, परभाव किंचित् ना ग्रहे।
ज्ञाता रु दृष्टा सर्व का मैं, ज्ञानी इसी विधि चिन्तवे॥

अत्यधिक दु:खों से पीड़ित वह महावीर का जीव, मानों अब उनसे छूटने तथा भगवान होने हेतु कटिबद्ध हुआ हो, तदनुसार बड़ी कठिनाई से दीर्घकाल में कुयोनियों से निकलकर पुन: मनुष्य हुआ; निगोददशा को अन्तिम प्रणाम करके सदा के लिये छोड़ दिया।

निगोद से निकलकर मोक्ष की ओर –

पूर्वभव : राजगृही में स्थविर ब्राह्मण और पाँचवें स्वर्ग में देव

हम भगवान महावीर के पूर्व भवों की कथा पढ़ रहे हैं। अति दीर्घकाल तक एकेन्द्रिय पर्याय में तथा विकलत्रय में दु:ख के ही अवतार कर-करके अन्त में वह जीव राजगृही में एक ब्राह्मण के घर पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ; उसका नाम स्थविर था। राजगृही....जहाँ से स्वयं कुछ भव पश्चात् धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाला है, – ऐसी उस नगरी में अवतरित वह जीव अभी तो धर्म जानता भी नहीं है; अभी उसने मिथ्यात्व के पाप का भार उतारा नहीं है। राजगृही नगरी की शोभा तो अद्भुत थी; परन्तु **वहाँ अवतरित जीव भी धर्म के बिना शोभा नहीं देता था। कोयले को भले ही सुवर्ण मंजूषा में रखो, तो क्या वह वहाँ शोभा देगा ?** अपने पुण्य-पाप कर्म के अनुसार जीव संसार में अनेक वस्तुएँ ग्रहण करता और छोड़ता है। घोर परिभ्रमण के पश्चात् बड़ी कठिनाई से मनुष्यभव को प्राप्त वह जीव अभी भी जागृत नहीं हुआ और नास्तिक-पंथ का संन्यासी बनकर मिथ्यात्व में ही पड़ा रहा; अज्ञानपूर्वक कुतप करके वह पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग में देव हुआ और दस सागरपर्यंत वहाँ रहा।

वहाँ की आयु पूर्ण होने पर वह पुन: राजगृही में अवतरित हुआ। भविष्य में इसी राजगृही से वह धर्मचक्र का प्रवर्तन करनेवाला है। इसी से मानों अव्यक्तरूप

से भी उसकी राजगृही के प्रति ममता हो, इसलिये वह जीव राजगृही में राजकुमार के रूप में अवतरित हुआ।

पूर्वभव : राजगृही नगरी में विश्वनन्दि राजकुमार
(वैराग्य, धर्मप्राप्ति, जिनदीक्षा, निदानबंध, दसवें स्वर्ग में देव)

अपना भारत देश अर्थात् तीर्थंकरों की पुण्यभूमि, उसमें भी मगध देश और उसकी भी राजगृही नगरी विशिष्ट तीर्थ समान है। वहाँ पुण्यवन्त धर्मात्मा जीव निवास करते हैं और जैनधर्म का प्रताप वर्तता है।

अपनी कथा का मुख्य पात्र अर्थात् अपने चरित्र नायक का जीव इस धर्म नगरी में विश्वभूति राजा के पुत्ररूप में धर्म प्राप्त करने हेतु अवतरित हुआ है जिसका नाम 'विश्वनन्दि' है।

राजा विश्वभूति श्वेत केश देखकर संसार से विरक्त हुए और अपने भ्राता विशाखभूति को राज्य सौंपकर तथा विश्वनन्दिकुमार को युवराज पद देकर चार सौ राजाओं सहित जिनदीक्षा लेकर मुनि हुए।

विशाखभूति ने सुन्दर ढ़ंग से राज्य का संचालन किया और विश्वनन्दि युवराज ने उन्हें अच्छा सहयोग दिया। युवराज ने एक अति सुन्दर उद्यान बनवाया था; उसके सुन्दर पुष्प मानों 'चैतन्य उद्यान' विकसित होने की पूर्व सूचना देते हों – इसप्रकार सुशोभित होते थे। यद्यपि अभी चैतन्य उद्यान खिला नहीं था, इसलिये चैतन्य उद्यान की अतीन्द्रिय शोभा को नहीं जाननेवाला वह भव्य, बाह्य उपवन की सुन्दरता पर मुग्ध था। वह उद्यान अनेक प्रकार के उत्तम वृक्षों से शोभायमान था, बारम्बार मुनिवर पधार कर उस उद्यान की शोभा में अभिवृद्धि करते और वहाँ असमय ही आम्रवृक्ष फलते थे। उस अद्भुत उद्यान के प्रति युवराज विश्वनन्दि को अति ममत्व था; क्यों न हो ? जबकि वह उद्यान ही उसके चैतन्य उद्यान के खिलने में कारणभूत होनेवाला है।

एकबार उसके काका के पुत्र राजपुत्र 'नन्द-विशाख' (विशाखनन्दि) ने वह अद्भुत उद्यान देखा और उसका मन मोहित हो गया। उसने माता-पिता के पास वह उद्यान उसे दिलवा देने की हठ की। अपने पुत्र को उद्यान दिलवा देने के लिये विशाखभूति ने कपटपूर्वक विश्वनन्दि को काश्मीर राज्य पर विजय प्राप्त करने के

बहाने राज्य से दूर भेज दिया। आज्ञाकारी युवराज शत्रु को जीतने के लिये सेना सहित चल दिया। उसके जाने पर उसके चचेरे भाई नन्द-विशाख ने उसके प्रिय उद्यान पर अधिकार कर लिया। शत्रु राज्य पर विजय प्राप्त करके युवराज विश्वनन्दि शीघ्र ही राजगृही लौट आया। उसके मन में अपने उपवन की चिन्ता थी; उपवन को देखे बिना उसे चैन नहीं पड़ता था। (हे भव्य पाठको ! कुछ ही देर में तुम देखोगे की ऐसी घटनाएँ भी भव्यजीवों को किसप्रकार हित का कारण होती हैं !)

राजगृही नगरी में आकर उसने देखा कि प्रजाजन भयभीत हो रहे हैं। नन्द-विशाख (उसका चचेरा भाई) उसके उद्यान पर आधिपत्य जमाकर उससे लड़ने को तैयार बैठा है। युवराज विश्वनन्दि ने उसके साथ युद्ध किया। अत्यन्त वीरतापूर्वक पत्थर का एक खम्भा उठाकर उसके प्रहारों से उसने शत्रुसेना के छक्के छुड़ा दिये। उसके पराक्रम से भयभीत होकर नन्द-विशाख भागा और जान बचाने के लिये एक वृक्ष पर चढ़ गया; परन्तु अति बलवान विश्वनन्दि ने क्रोध पूर्वक उस वृक्ष को उखाड़ डाला। अन्त में नन्द-विशाख उसकी शरण में आया और चरणों में गिरकर क्षमा-याचना करने लगा।

यह देखकर उदार हृदय विश्वनन्दि को दया आई और उसका क्रोध शान्त हो गया। अरे ! भाई के साथ युद्ध करके अब मैं पितातुल्य काका विशाखभूति को क्या मुँह दिखाऊँ ? इसप्रकार लज्जित होकर वह राज्य छोड़कर दीक्षा हेतु वन में जाने को तैयार हुआ। **'दुर्जनों द्वारा किया गया अपकार भी सज्जनों को कभी-कभी उपकाररूप हो जाता है।'** जिस उद्यान के मोहवश युद्ध करना पड़ा, उसे छोड़कर मुनिदीक्षा ग्रहण करने हेतु वह राजकुमार दिगम्बर जैनाचार्य के निकट जा पहुँचा। वन में संभूतस्वामी नाम के दिगम्बर जैनमुनि संघसहित विराज रहे थे। रत्नत्रय-पुष्पों से सुशोभित वह मुनिसंघ धर्म के सुन्दर उपवन समान था, विश्वनन्दि ने मुनिराज के चरणों में नमस्कार किया और उनके श्रीमुख से राग-द्वेष रहित चैतन्य के शुद्धस्वरूप का श्रवण करके, स्वानुभूतिपूर्वक दिगम्बर जिनदीक्षा अंगीकार की। राजा विशाखभूति ने भी जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। भविष्य के महावीर भगवान का जीव विश्वनन्दि अब बाह्य उपवन का ममत्व छोड़कर अन्तर में रत्नत्रय पुष्पों से सुशोभित चैतन्य-उपवन में विचरने लगा; तप द्वारा उसका चैतन्य उद्यान खिल उठा था।

(अहा ! अपने चरित्र नायक इस भव में पहली बार धर्म को प्राप्त हुए। चैतन्य की आराधना द्वारा उन्होंने इस भव में भवकट्टी की; परन्तु उस आराधना में एकबार निदान शल्य के कारण बीच में भंग पड़ गया। पश्चात् **मोक्ष की अखण्ड आराधना उन्होंने सिंह के भव में प्रारम्भ की**, इसलिये शास्त्रकारों ने सिंह के भव में सम्यक्त्व-प्राप्ति का वर्णन मुख्यरूप से किया है, जो हमें अखण्ड-आराधना की प्रेरणा देता है।)

दीक्षा लेने के पश्चात् राजा विशाखभूति तो निःशल्य रत्नत्रय का पालन करके दसवें स्वर्ग में गये। इधर राजगृही में उनका पुत्र नन्दविशाख, जिसके अन्याय के कारण विश्वनन्दि ने राज्य छोड़कर दीक्षा ली थी, वह नन्द-विशाख शक्तिहीन तथा पुण्यहीन था। कुछ ही समय पश्चात् एक राजा ने उसका राज्य जीत लिया और वह रास्ते पर भटकता हुआ भिखारी बन गया। राजा मिटकर रंक हो गया। वह भीख माँगता हुआ मथुरा की गलियों में घूमने लगा।

अब अपने चरित्र नायक महात्मा विश्वनन्दि का क्या हुआ ? वह देखें – उपवन का मोह छोड़कर मुनि हुए विश्वनन्दि मुनि यथाशक्ति रत्नत्रय धर्म का पालन करते थे; अनेक बार उपवासादि भी करते थे। एकबार उन्होंने मासोपवास किये। जैनमुनि उपवास में पानी भी नहीं पीते; तथा उपवास के अतिरिक्त दिनों में भी मात्र एक ही बार आहार-जल ग्रहण करते हैं। इसप्रकार अन्न-जल रहित मासोपवासी विश्वनन्दि मुनिराज मथुरा नगरी में पारणा हेतु पधारे और नीचे देखकर मार्ग में चल रहे थे। इतने में एक बैल ने उन्हें सींग मारा और वे धरती पर गिर पड़े।

ठीक उसीसमय राज्यभ्रष्ट नन्दविशाख वहाँ एक वेश्या के घर के पास खड़ा था। उसने वह दृश्य देखा और पूर्व के वैर का स्मरण करके अट्टाहास पूर्वक कटाक्ष किया कि रे विश्वनन्दि ! कहाँ गया तेरा वह बल ? तूने तो विशाल खम्भा उखाड़ कर सारी सेना को जीत लिया था और मैं भाग कर वृक्ष पर चढ़ गया था तब पूरे वृक्ष को अपने बाहुबल से उखाड़ दिया था। उसके बदले आज एक बैल के धक्के से गिर पड़ा है। कहाँ गया तेरा वह बाहुबल ?

एक ओर मासोपवास की अशक्ति के कारण बैल के धक्के से गिर पड़ना और दूसरी ओर भाई द्वारा पूर्वकालिक वैर का स्मरण करके कटाक्ष करना.... उससे विश्वनन्दि मुनि की सुषुप्त कषाय जागृत हो उठी; क्रोधावेश में वे अपने

मुनिपद को भूल गये। **रत्नत्रय का अमूल्य निधान और उसके महा फल मोक्ष को भूलकर मानों उन्होंने अमूल्य रत्न को पानी के भाव बेच दिया।** क्रोधवश उनके नेत्रों से अंगारे झरने लगे और वे बोल उठे – अरे दुष्ट ! तू मेरे तप की हँसी उड़ाता है; परन्तु देख लेना इस तप के प्रभाव से भविष्य में मैं तुझे सबके सामने छेद डालूँगा। इसप्रकार अज्ञानवश वे निदान कर बैठे कि मेरे इस तप का कोई फल हो तो मैं अगले जन्म में अद्भुत शारीरिक शक्ति प्राप्त करूँ और इस दुष्ट नन्द-विशाख को मारूँ। ऐसे निदानशल्य के कारण वे रत्नत्रय से भ्रष्ट हो गये तथा विद्याधर की विभूति देखकर 'मेरे तप के प्रभाव से मुझे ऐसी विभूति प्राप्त हो' इसप्रकार उसका भी निदान कर बैठे।

रे विश्वनन्दि ! यह तुमने कैसी मूर्खता की ? रत्नत्रय के अमूल्य रत्न को तुमने क्रोध में आकर फेंक दिया ? रत्नत्रय के फल में शारीरिक बल की अभिलाषा करके तुम मिथ्यामार्गी हुए, चैतन्यवैभव को भूलकर तुमने पुण्यवैभव की चाह की और निदानशल्य से अपने आत्मा को भयंकर दुःख में डाल दिया।

इसप्रकार तीव्र क्रोधाग्नि में जिसने अपने सम्यक्त्वरत्न को जला दिया है, ऐसे उन विश्वनन्दि मुनि का जीव, निदानशल्यसहित मरकर, तप के शेष पुण्यप्रताप से महाशुक्र नामक दसवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ सोलह सागर तक उसने भोग-लालसा से इन्द्रसमान वैभव का उपभोग किया। अनुपम जैनव्रत प्राप्त करके भी उनका पूरा लाभ वह नहीं ले सका। **जिसप्रकार कोई मूर्ख पुरुष अमृतपान करके उसका वमन कर दे, तदनुसार उसने रत्नत्रयरूपी अमृत का निदानशल्य द्वारा वमन कर दिया और पुनः संसार में भटकने लगा।** (रे भवितव्य ! यह जीव है तो तीर्थंकर होनेवाला....किन्तु....भरतक्षेत्र का 'चौबीसवाँ' तीर्थंकर होने वाला है; और कालक्रमानुसार चौबीसवें तीर्थंकर के अवतार में अभी दीर्घकाल लगेगा....इसलिये बीच का समय संसार भ्रमण में बिताने के लिये ही निदानशल्य किया।)

पश्चात् नन्द-विशाख का जीव भी किसी कारणवश वैराग्य प्राप्त करके मुनि हुआ। जिनदीक्षा लेकर उसने तप किया; परन्तु एक बार आकाशमार्ग से जाते हुए किसी विद्याधर की आश्चर्यजनक विभूति देखकर वह भोगों की वांछा से ऐसा

निदानशल्य कर बैठा कि 'मेरे धर्म के फल में मुझे भी ऐसी विभूति प्राप्त हो !' अरे रे ! **धर्म के फल में उसने पुण्य भोगों की याचना की, अमृत के फल में विष माँगा।** इसलिये वह भी मिथ्यादृष्टि हुआ और उसके संचित पुण्य अल्प हो गये। **हाथ में आये हुए धर्मरत्न को फेंक कर उसके बदले में उसने विषय-भोगों का कोयला माँगा, अत: धिक्कार है विषयाभिलाषा को !** व्रतभ्रष्ट ऐसे उन विशाख मुनि का जीव भी निदान बंध सहित मरकर दसवें स्वर्ग में देव हुआ और विषय-भोगों की लालसा में ही असंख्य वर्ष व्यतीत किये।

(प्रिय पाठको ! महावीर होनेवाला यह विश्वनन्दि का जीव स्वर्ग से चयकर अब त्रिपृष्ठ वासुदेव और उसका भाई नन्द-विशाख प्रतिवासुदेव होगा। वह कथा आप अगले प्रकरण में पढ़ेंगे।)

जैनधर्म अर्थात् पंचपरमेष्ठी की नगरी

हमें महाभाग्य से इस नगरी में प्रवेश मिला है। आत्मिकसुख इसी नगरी में प्राप्त होता है; इस नगरी का रहन-सहन ही कोई भिन्न प्रकार का, अपूर्व एवं रागरहित होता है। इस वीतराग नगरी के निवासी पंचपरमेष्ठी भगवन्त तथा साधर्मी जगत से भिन्न भाववाले होते हैं।

आओ....इस नगरी में आये हो तो अब इस नगरी के आत्मवैभव को (तीर्थंकरों के महापुराण द्वारा) जान लो। यह समस्त वैभव तुम्हारा ही है। वह दिखलाकर भगवन्तों ने उपकार किया है।

पूर्वभव : त्रिपृष्ठ वासुदेव

जहाँ हम रहते हैं उस भरतक्षेत्र में, प्रत्येक(अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी) कालचक्र में (प्रत्येक के दस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम में) दो बार २४-२४ तीर्थंकर भगवन्त अवतरित होते हैं। वे सर्वज्ञ होकर, ज्ञानानन्द आत्मा का स्वरूप समझा कर उसकी वीतरागी उपासनारूप मोक्षमार्ग बतलाते हैं और उनके उपदेश से लाखों-करोड़ों-असंख्यात जीव धर्म प्राप्त करके संसार से मुक्त होते हैं। उनमें इस चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर महावीर भगवान का २५००वाँ अभूतपूर्व महोत्सव भारतभर में मनाया गया था। उस अवसर पर पूज्य श्री कानजीस्वामी की प्रेरणा से लिखे गये इस ग्रन्थ में भगवान महावीर का मंगल जीवन आप पढ़ रहे हैं। उनके पूर्वभवों का वर्णन चल रहा है।

अपने चरित्र नायक महावीर का जीव दसवें स्वर्ग से वासुदेवरूप में कहाँ उत्पन्न होता है ? वह देखें – भरतक्षेत्र की पोदनपुरी में भगवान ऋषभदेव, बाहुबलि के वंश में असंख्यात बड़े-बड़े राजा हुए और मोक्ष प्राप्त किया। उनमें अनुक्रम से प्रजापति नाम के राजा हुए। उनके दो पुत्र – (१) विशाखभूति का जीव (जो पूर्वभव में विश्वनन्दि के काका थे वे) विजय बलदेवरूप में अवतरित हुए और (२) विश्वनन्दि (महावीर का जीव) त्रिपृष्ठ वासुदेव रूप में अवतरित हुए।

उसीसमय पूर्वभव का नन्द-विशाख का जीव विद्याधरों की अलकापुरी नगरी में राजकुमार के रूप में अवतरित हुआ, उसका नाम अश्वग्रीव रखा गया। उस अश्वग्रीव को अनेक विद्याएँ सिद्ध हुईं तथा दस हजार आरेवाला सुदर्शन चक्र, दंड, छत्र, खड्ग आदि अनेक दैवी-आयुध प्राप्त हुए। तीनों खण्डों पर विजय प्राप्त करके वे आधे भरतक्षेत्र के स्वामी (अर्धचक्री-प्रतिवासुदेव) हुए। दग्ध पुण्य के फल का उपभोग करते हुए उन अश्वग्रीव की हजारों राजा सेवा करते थे। पुण्य से क्या नहीं मिलता ?

अरे ! **आराधक दशा में बाँधकर पश्चात् निदान बंध द्वारा जलाये हुए दग्ध-पुण्य का भी ऐसा फल है, तो आराधक भावसहित बाँधे हुए आश्चर्यकारी सातिशय-पुण्य का क्या कहना !....तथा पुण्यराग से परे ऐसी चैतन्य आराधना के वीतरागी आनन्द की तो बात ही क्या !.... धन्य आराधना ! धन्य वीतरागता ! धन्य उसका प्रशंसनीय फल !**

एक दिन पोदनपुर में महाराजा प्रजापति दोनों पुत्रों (विजय और त्रिपृष्ठ) सहित राजसभा में बैठे थे। उससमय मंत्री ने निवेदन किया – हे स्वामी ! आपकी प्रजा सर्व प्रकार से सुखी होने पर भी उसे आजकल एक महा भयंकर सिंह ने लोगों की हिंसा करके भयभीत कर रखा है। उसका उपद्रव इतना बढ़ गया है कि लोग इधर-उधर आ-जा भी नहीं सकते।

यह सुनते ही राजा को खेद हुआ कि अरे ! खेत में अनाज की रक्षा हेतु बाँस का बिजू (बनावटी आदमी) हो, उससे भी हिरण आदि प्राणी भयभीत होकर भागते हैं और फसल की रक्षा होती है; फिर मैं इतना पराक्रमी होकर भी अपनी प्रजा की रक्षा न कर सकूँ यह तो शर्म की बात है। जो प्रजा का दुःख दूर न कर

सके वह राजा किस काम का ? ऐसा विचार कर राजा ने सिंह को मारने के लिये सेना को तैयार होने की आज्ञा दी।

इतने में त्रिपृष्ठकुमार उठे और हँसकर बोले – 'पिताजी एक हिंसक पशु को मारने के लिये स्वयं आपको कष्ट उठाना पड़े, तो फिर हम किस काम के ? इतने छोटे से काम के लिये आपका जाना आवश्यक नहीं है। मैं अभी जाकर सिंह को मारता हूँ।' ऐसा कहकर त्रिपृष्ठकुमार वन में गये। सिंह को गुफा से बाहर निकाला। एक हाथ से सिंह के अगले पंजे पकड़े और दूसरे हाथ से झपट्टा मारकर उसे नीचे पछाड़ दिया; फिर जिसप्रकार बजाज कपड़ा फाड़ता है तदनुसार सिंह का मुँह फाड़कर उसको चीर दिया। (मानों उस सिंह को मारने के क्रूर परिणामवश त्रिपृष्ठ को भी अगले भवों में सिंह की पर्याय में जाना पड़ेगा। पाठको ! ऐसे पराक्रम की घटना में वासुदेव को हिंसा में आनन्द माननेरूप 'हिंसानन्दी-आर्तध्यान' के जो क्रूर परिणाम वर्तते हैं, उन परिणामों से उसे नरकगति का बन्ध होता है।)

सिंह को मारने से उन राजकुमार के पराक्रम की प्रशंसा चारों ओर फैल गई। तत्पश्चात् एकबार 'कोटिशिला' को ऊपर उठाकर उन्होंने महान पराक्रम किया। इस कोटिशिला से करोड़ों मुनिवरों ने मोक्ष प्राप्त किया है। साधारण मनुष्य उसे ऊपर नहीं उठा सकते; नारायण – वासुदेव ही उसे उठाते हैं। एकबार जो प्रथम तीर्थंकर का पौत्र था, वही जीव असंख्यात वर्ष पश्चात् उन्हीं के कुल में अवतरित होकर प्रथम नारायण-अर्धचक्री हुआ। नौ नारायणों में यह प्रथम नारायण, श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में हुए। विद्याधरों के राजा ज्वलनजटी ने अपनी पुत्री स्वयंप्रभा का विवाह त्रिपृष्ठ के साथ किया; तब उसके प्रतिस्पर्द्धी राजा अश्वग्रीव को अपमान लगा कि विद्याधर ने श्रेष्ठ कन्या मुझे न देकर त्रिपृष्ठ को क्यों दी ? इससे क्रोधित होकर वह त्रिपृष्ठ के साथ युद्ध करने चला। उधर त्रिपृष्ठकुमार ने भी युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी; उसके लिये वह विद्या सिद्ध करने लगा। दूसरों को जो बारह वर्षों में सिद्ध होती हैं – ऐसी विद्याएँ त्रिपृष्ठ को पुण्यप्रताप से मात्र सात दिन में सिद्ध हो गई। अहा ! पुण्य द्वारा जगत में क्या साध्य नहीं है ? **पुण्य से जगत में सब कुछ मिल जाता है; परन्तु चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख उससे प्राप्त नहीं होता।** इसीलिये तो मुमुक्षु जीव कहते हैं कि अरे, ऐसे हत्पुण्य का हमें क्या करना है ?

(अरे रे ! भावी तीर्थंकर ऐसे यह वासुदेव वर्तमान में हिंसा के हेतुभूत लौकिक विद्याएँ साधने में लगे हैं...परन्तु अब कुछ ही भव पश्चात् वे अलौकिक आत्मविद्या साधेंगे तथा जगत के जीवों को भी उसे अलौकिक वीतरागी विद्या का बोध देंगे। तब उनकी सच्ची वीरता विकसित हो उठेगी और वे 'महा-वीर' कहलायेंगे।)

शस्त्रविद्या साधकर दोनों भाईयों ने युद्ध के लिये प्रस्थान किया। घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ। अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ दोनों शूरवीर योद्धा थे। युद्ध सम्बन्धी आर्तध्यान में वे इतने तल्लीन थे कि नरकगति के कर्म आत्मा में प्रविष्ट हो रहे हैं, उन्हें उसकी भी खबर नहीं रही। लाखों लोग आश्चर्य से, भय से तथा कुतूहल से युद्ध देख रहे थे। उनमें से कोई तो वैराग्य के परिणाम कर रहे थे कि अरे रे ! एक तुच्छ बात के लिये ये लोग लड़ रहे हैं.....और कोई मूर्ख जीव युद्ध में आनन्द मानकर हिंसानन्दी रौद्रध्यान कर-करके व्यर्थ ही अशुभकर्म बाँध रहे थे। **जीवों के परिणामों की भी कैसी विचित्रता है ? कि एक ही प्रसंग पर भिन्न-भिन्न जीव भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम करते हैं।** इसीलिये तो कहा है कि –

'हैं जीव विध-विध, कर्म विध-विध, लब्धि हैं विध-विध अरे !'

उसमें तू अपना कल्याण कर लेना, जगत की ओर देखने में मत रुकना।

युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अश्वग्रीव विद्याधर के दूत ने आकर त्रिपृष्ठ से धमकी भरे वचन कहे; तब उनका उत्तर देते हुए त्रिपृष्ठ ने कहा – हे दूत ! तेरे राजा को आकाश में ऊँचे उड़ने तथा विद्याधरपने का अभिमान होगा; परन्तु आकाश में तो कौए भी उड़ते है; उसमें क्या है ? याद रखना कि तीर्थंकर और चक्रवर्ती कभी विद्याधरों के यहाँ नहीं होते, वे तो भूमिगोचरी राजाओं के यहाँ ही होते हैं।

तब अश्वग्रीव के दूत ने कहा – अरे, हमारे महाराज के पास दिव्यचक्र है; उसके प्रताप को क्या आप नहीं जानते ? सूर्य समान तेजस्वी वह चक्र बड़े-बड़े शत्रुओं का छेदन कर देता है....।

त्रिपृष्ठ ने उसे बीच में ही रोक कर कहा – हे दूत ! तू यहाँ से चला जा; अपने राजा की व्यर्थ प्रशंसा मत कर, युद्ध में उसकी परीक्षा हो जायेगी। रणभेरी बज उठी....दोनों ओर के योद्धा सावधान हो गये। **जिसप्रकार मुमुक्षु जीव शुद्धोपयोग**

द्वारा मोह को नष्ट करने हेतु तत्पर होते हैं, तदनुसार शूरवीर योद्धा शत्रु का घात करने हेतु तत्पर हो गये। सामने शत्रु खड़े होने पर भी वे कुशल योद्धा गम्भीर एवं शान्त दिखाई देते थे; क्योंकि कुशल पुरुष आकुलता का प्रसंग आने पर भी व्याकुल नहीं हो जाते....अथवा मोहशत्रु का हनन करने में तत्पर हुआ शूरवीर साधक स्वयं शान्त रहकर ही मोह को नष्ट कर देता है। जिसप्रकार गुरु उत्तम शिष्य को आत्मसाधना हेतु प्रोत्साहित करते हैं, उसीप्रकार राजा अपने सेनापतियों को प्रशंसा द्वारा युद्ध के लिये उत्साहित कर रहे थे। जब राज सेवक बलदेव-वासुदेव के लिये कवच लाये तब अपनी शूरवीरता के अभिमान से उन्होंने उसे पहिनने से इन्कार किया कि 'शूरवीर को अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य के रक्षण की क्या आवश्यकता है?' शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से स्वयंभू-सर्वज्ञ होने वाले अरिहन्तों को किसी अन्य साधन की आवश्यकता कहाँ होती है?

त्रिपृष्ठ का पराक्रम अद्भुत था। **जिसप्रकार सम्यक्त्व हेतु तत्पर मुमुक्षु योद्धा विशुद्धि के प्रहार द्वारा मिथ्यात्व शत्रु के तीन टुकड़े कर देता है, तदनुसार त्रिपृष्ठ ने प्रथम प्रहार में ही शत्रुसेना को तीन भागों में विभक्त कर दिया।** जिसप्रकार आत्मसाधना हेतु कटिबद्ध हुए, शूरवीर साधक शरीर की परवाह नहीं करते, उसीप्रकार विजय के लिये उन्मत्त योद्धा चारों ओर शस्त्र से विंधे हुए शरीर की परवाह नहीं करते हैं। अरे, खेद है **कि वे योद्धा क्रोधावेश में इसप्रकार निर्भयरूप से शरीर को तो छोड़ देते थे; परन्तु शरीर से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान करने में अपनी शक्ति नहीं लगाते थे। जितनी शक्ति वे युद्ध में लगा रहे थे, उतनी आत्मसाधना में लगाते तो कितना अपूर्व लाभ होता!**

'युद्ध में जिनके साथ कोई वैर न हो ऐसे हाथी, घोड़े तथा सैनिकों को भी अरे! मात्र अपने स्वामी की प्रसन्नता के लिये मरना पड़ता है। धिक्कार है ऐसी पराधीन चाकरी को!' ऐसा विचार कर अनेक योद्धाओं ने इस युद्ध के बाद तुरन्त चाकरी छोड़ने का निर्णय कर लिया था। जिन्हें हिंसा नहीं रुचती थी – ऐसे अनेक जीवों का चित्त युद्ध से उदास होने पर भी वे युद्ध कर रहे थे। कोई योद्धा युद्ध भूमि में घायल होकर मरने की तैयारी में हो; तब घायल करनेवाला योद्धा स्वयं ही उसे पानी पिलाता था और पंचपरमेष्ठी का नाम सुनाता था। इसप्रकार वे युद्ध भूमि में

ही बैरभाव को भूल जाते थे। घायल शत्रु पर कोई भी पुन: प्रहार नहीं करते थे, अपितु उसे आश्वासन देते थे। ऐसे विभिन्न दृश्य युद्ध भूमि में दिखायी देते थे।

विजय और त्रिपृष्ठ द्वारा अपने कितने ही शूरवीर विद्याधरों का नाश होते देखकर अश्वग्रीव ने चक्र हाथ में लेकर गर्जना की; तब भावी महावीर ऐसे त्रिपृष्ठ ने निर्भयरूप से कहा – रे अश्वग्रीव ! तेरी गर्जना व्यर्थ है; जंगली हाथी की गर्जना से हिरन डरते हैं, सिंह नहीं; कुम्हार के चाक जैसे तेरे इस चक्र से मैं नहीं डरता....चला अपने चक्र को।

अन्त में, अत्यन्त क्रोधित होकर अश्वग्रीव ने वह चक्र त्रिपृष्ठ पर फेंका....मानों चक्र के बहाने उसने अपना पुण्य ही फेंक दिया। भयंकर ज्वालाएँ छोड़ता एवं अत्यन्त गर्जना करता हुआ वह चक्र तीव्रगति से चला। दोनों ओर की सेनाओं में भयंकर हाहाकार मच गया। प्रथम तो जिसने अश्वग्रीव के पुण्य का ही छेदन कर दिया है ऐसा वह चक्र आश्चर्यपूर्वक त्रिपृष्ठ के दाएँ हाथ पर आया; उसकी ज्वालाएँ शान्त हो गईं, गर्जनाएँ रुक गईं और वह त्रिपृष्ठ के आदेश की प्रतीक्षा करने लगा। तुरन्त वही चक्र क्रोधावेश में त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव पर फेंका। (रे महात्मा ! यह हिंसक चक्र तुम्हारे हाथ में शोभा नहीं देता; अब तुम धर्मचक्र के प्रवर्तक बनने वाले हो। तुम्हारा चक्र जीवों को मारने वाला नहीं, किन्तु तारनेवाला होगा।)

क्रोधपूर्वक त्रिपृष्ठ द्वारा छोड़े हुए उस चक्र ने अश्वग्रीव की ग्रीवा को छेद दिया और वे भरतक्षेत्र के प्रथम वासुदेव के रूप में प्रसिद्ध हुए। **त्रिखण्ड का राज्य एवं अपार विभूति होने पर भी सम्यक्त्व रहित वह जीव किंचित् सुखी नहीं था।** भोग सामग्री में तल्लीन ऐसा वह जीव दानादि धर्म को नहीं जानता था और सदा अति आरम्भ-परिग्रह में डूबा रहता था। अरे ! विषय समुद्र को पार करने हेतु नौका समान जो जैनशासन है, वह तो आत्मा में ही शान्तिरूप शाश्वत सुख बतलाकर विषयों से सुखबुद्धि छुड़ाता है, तो ऐसा 'वीर-शासन' प्राप्त करके 'त्रिपृष्ठ जैसी मूर्खता' कौन करेगा ? और विषयों की आग में कौन जलेगा ? जिनोक्त धर्म की अवहेलना करके जो विषयों में लुब्ध होता है, वह मूर्ख प्राणी हाथ में आये हुए अमृत को छोड़कर विषपान करता है। राग का नाश होने से आत्मा को जिस स्वाभाविक शान्तिरूप परमसुख की प्राप्ति होती है – क्या

उसका अनन्तवाँ भाग भी विषयांध मोही जीव को विषयों में से प्राप्त होता है ? नहीं, विषयरहित वीतरागभाव से ही जीव को शान्ति प्राप्त होती है।

पूर्वभव : त्रिपृष्ठ मरकर सातवें नरक में और विजय बलभद्र मोक्ष में

(दो भाई – एक मोक्ष में, दूसरा नरक में) त्रिपृष्ठ कुमार ने (अपने चरित्र नायक महावीर के जीव ने) विजय बलभद्रसहित त्रिखण्ड के राज्य का दीर्घकाल तक उपभोग किया। योग्य समय पर उनके पिता प्रजापति ने दीक्षा ग्रहण की और केवलज्ञान प्रगट करके निर्वाण प्राप्त किया। दूसरी ओर इष्ट एवं मनोज्ञ (वास्तव में अनिष्ट एवं बुरे) विषयों में ही जिसका चित्त लीन है – ऐसा वह त्रिपृष्ठकुमार निदान बन्ध के कारण विषयों के रौद्रध्यान सहित निद्रावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ.... और जिसका असंख्यात वर्षों का घोरातिघोर दुःख चिन्तन में भी नहीं आ सकता – ऐसे सातवें नरक में जा गिरा। अरे रे ! एक-एक क्षण तीव्र विषयासक्ति के पापफल में वह जीव असंख्यात वर्ष के महा भयानक दुःखों को प्राप्त हुआ। **ऐसे घोर दुःख फलवाले विषयसुखों को सुख कौन कहेगा ?** उन नरक दुःखों का वर्णन भी जिज्ञासु को संसार से भयभीत कर देता है। अरे ! ऐसे दुःख ? उनसे बचना हो तो **अज्ञान को छोड़कर आत्मज्ञान करना चाहिये... विषयों के प्रति वैराग्य करना चाहिये।** यह महावीर का जीव पूर्वकाल में अज्ञानदशा से भवभ्रमण करता हुआ त्रिपृष्ठ वासुदेव जैसा महान अवतार प्राप्त करके भी विषय-कषायों में लीनतावश सातवें नरक में गया। इससे ज्ञात होता है कि अरे **जीव ! जिन्हें मूर्ख अज्ञानीजन सुख मान रहे हैं – उन्हें तू नरक समान दुःख दाता जान....और उनसे विमुख होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख को सच्चा सुख जानकर उसकी अनुभूति में संलग्न हो। विषय-कषाय सांसारिक सुखों का मण भी दुःख है और चैतन्यानुभूति के कण में भी महान सुख है।**

कहाँ अर्धचक्रवर्ती के त्रिखण्ड के राजवैभव की अनुकूलता....और कहाँ यह सातवें नरक की प्रतिकूलता ? अपने भाई त्रिपृष्ठ की मृत्यु होने पर विजय बलभद्र छह मास तक उद्वेग में रहे; पश्चात् वैराग्य प्राप्त करके जिनदीक्षा धारण की और रत्नत्रयरूपी अमोघ-अहिंसक शस्त्र द्वारा समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्षपद प्राप्त किया। **अरे ! सदा साथ रहने वाले दो भाई....उनमें से एक ने तो वीतराग चारित्र द्वारा मोक्षसुख प्राप्त किया और दूसरे ने विषय-कषायवश**

सातवें नरक के घोर दु:ख पाये। यह जानकर हे भव्यजीवो ! तुम विषय-कषाय से विरक्त होकर वीतरागी चारित्र की आराधना करो !....अरे ! **जीव के परिणामों की विचित्रता तो देखो ! कि वही जीव पुन: नरक से निकलकर वर्तमान में मोक्ष में विराजमान है और हम उसे 'भगवान महावीर' रूप में पूजते हैं।**

पूर्वभव : सिंह होकर नरक में और पुन: सिंह

सातवें नरक में एक नारकी ने आकर भाले से उसकी आँखें छेद डालीं; वह दु:ख से चीत्कार करता कि उससे पूर्व ही एकसाथ कितने ही नारकियों ने उसके शरीर में भाले घोंप दिये; वह गिरा कि उसे उठाकर उबलते हुए लाल रस में डालकर गला दिया। अरे ! उसके करोड़ों दु:खों का कौन वर्णन कर सकता है ?

बड़ी कठिनाई से छूटकर वह नारकी जीव (भावी तीर्थंकर) शान्ति की इच्छा से एक वृक्ष (सेमर वृक्ष) के नीचे गया; किन्तु तुरन्त ही ऊपर से तीक्ष्ण असिधारा वाले पत्ते उस पर पड़ने लगे और उसके हाथ-पैर आदि सर्व अंग कटकर छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखर गये। अरे रे ! मर जाऊँ तो यहाँ से छूटूँ – ऐसा उसे लगा; किन्तु नरक में मृत्यु भी माँगने से नहीं मिलती। अरे रे ! पापी को शान्ति कैसी ? एक क्षण मात्र कहीं चैन नहीं है ! – इसप्रकार भयंकर मरण वेदनाएँ सहते-सहते उस जीव ने असंख्यात वर्ष बिताये।

ऐसे नरक के तीव्र दु:ख भोगकर वह अर्धचक्री का जीव इस भरतक्षेत्र के विपुलसिंह नामक पर्वत पर क्रूरपरिणामी सिंह हुआ; अनन्तानुबन्धी कषायसहित रौद्रध्यान से रंजित उसका मन शान्ति रहित था। भूखा न हो, तब भी बिना कारण वह अनेक निर्दोष जीवों का घात कर देता था। इसप्रकार जिसके रौद्र भावों का प्रवाह कभी रुका नहीं है – ऐसा वह निर्दय सिंह वहाँ से मरकर पुन: नरक में गया और फिर असंख्यात वर्षों तक उसने वहाँ के तीव्र-असह्य दु:ख भोगे। उन दु:खों का कथन कैसे हो ? और कैसे सहे जायें ? वह तो भोगनेवाला ही भोगे और भगवान ही जाने।

ऐसे मिथ्यात्व-कषाय के दु:खों से अब बस होओ !....बस होओ ! जिनका वेदन अब इस जीव को तो कभी नहीं करना है; परन्तु जिन दु:खों का वर्णन पढ़ते-

लिखते हुए भी कपकपी आ जाती है – वे दु:ख महावीर के जीव ने अज्ञानवश अन्तिम बार भोग लिये। बस अब फिर कभी वह जीव ऐसे दु:ख में नहीं पड़ेगा। नरक की यह उसकी अन्तिम पर्याय है; अब नरक को तिलांजली देकर वहाँ से बाहर निकलकर वह पुन: सिंह हुआ। उसकी यह सिंह पर्याय (और तिर्यंच पर्याय भी) अन्तिम है, अब फिर वह जीव कभी तिर्यंचगति में भी अवतरित नहीं होगा।

इसप्रकार महावीर के जीव ने नरक और तिर्यंच इन दोनों गतियों में परिभ्रमण करने का अन्त तो किया। अब शेष रही देव और मनुष्य पर्यायों का भी अन्त करके वह जीव अपूर्व सिद्धपद की साधना किसप्रकार करता है – उसकी सरस आनन्दप्रद कथा अब प्रारम्भ होगी। अभी तक तो वह जीव अज्ञान एवं कषायवश संसार में कहाँ-कहाँ भटका और कैसे-कैसे दु:ख भोगे – यह उसकी कथा थी, बन्धन की कथा थी; परन्तु अब वह जीव किसप्रकार धर्म प्राप्त करता है, आराधक बनकर कैसी शान्ति का वेदन करता है और कैसे मोक्ष सुख साधकर महावीर बनता है, उसकी सुन्दर आनन्ददायक धर्मकथा पढ़कर प्रसन्नता होगी। दु:ख में तो ग्लानि होती ही है; परन्तु दु:ख की कथा पढ़कर भी जीव थक जाता है। महावीर के जीव की दु:खद कथा का अन्त हुआ; अब उसकी सुखद कथा प्रारम्भ करते हैं।

भगवान महावीर के पूर्वभव : सम्यक्त्वोपरांत

दसवाँ पूर्वभव : सिंह के भव में सम्यक्त्व प्राप्ति

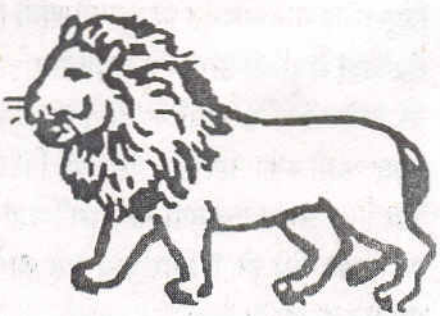

अपने चरित्र नायक का जीव नरक से निकलकर एक बलवान सिंह हुआ। दसवें भव में जो तीर्थंकर होनेवाला है – ऐसा वह सिंह भरतक्षेत्र के एक पर्वत पर रहता था; वन के विशाल हाथी भी उससे डरते थे; उसके विकराल मुँह से भयानक गर्जना सुनकर वन के पशु काँप उठते थे। क्रूरता से हिंसा करते-करते उसे दीर्घकाल व्यतीत हो गया था। एकबार अमितकीर्ति और अमितप्रभ नाम के दो मुनिवर

आकाशमार्ग से जाते हुए वहाँ सिंह को प्रतिबोध देने हेतु उतरे। अचानक ऐसे शान्त मुनिवरों को अपने समक्ष खड़ा देखकर सिंह को विस्मय हुआ। एक ओर मरा हुआ हिरन पड़ा है, सामने चेतनवन्त मुनिवर खड़े हैं। सिंह ने दोनों की ओर देखा – एक ओर महान हिंसा और दूसरी ओर परम शान्ति (एक ओर आस्रव एवं बंधतत्त्व, दूसरी ओर संवर-निर्जरातत्त्व)। विरुद्ध दृश्य एवं विरुद्ध भाव देखकर वह क्षण भर तो विचार में पड़ गया। **अन्त में क्रूरता पर शान्ति की विजय हुई; उसे क्रोध की अपेक्षा शान्ति अच्छी लगी। वीतरागता के सान्निध्य में क्रूरता कैसे टिक सकती थी ?** मुनियों की ओर देखकर उसके अन्तर में नवीन शान्तभाव जागृत होने लगे 'अहा ! ऐसी शान्ति' ! जीवन में प्रथम बार ही अपने अन्तर में ऐसे शान्त परिणामों से सिंह को आश्चर्य होने लगा।

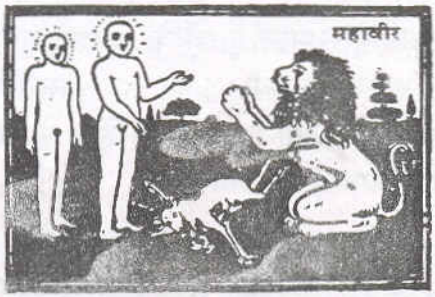

उस समय उसकी सुन्दर चेष्टा देखकर अमितकीर्ति मुनिराज वात्सल्यपूर्ण वचनों से उसे सम्बोधने लगे – हे मृगेन्द्र ! ऐसी क्रूर सिंह पर्याय तुमने कहीं प्रथम बार धारण नहीं की है – ऐसी तो अनन्त क्रूर पर्यायें धारण कर-करके अज्ञान से तुम संसार वन में भटक रहे हो। यह ज्ञान-लक्षण संयुक्त जीव अनादि-अनन्त है; वह अपने परिणामों का कर्ता होकर उनके फल का भोक्ता होता है; अभी तक तुमने अज्ञानवश कषायभाव ही कर-करके उनके फलरूप दु:खों को भोगा है। अब उस मिथ्याबुद्धि को तथा कषायभावों को तुम छोड़ो और आत्मज्ञान करो। अब तुम्हारे हित का अवसर आया है। सिंह बड़ी आतुरता और तल्लीनता से मुनिराज के वचन सुन रहा है।

दूसरे मुनिराज भी प्रेम पूर्वक कहने लगे – अरे वनराज ! तुम्हारे महान भाग्य से तुम्हें मुनिराज का उपदेश मिला है; पात्र होकर तुम अवश्य सम्यक्त्व को अंगीकार करो ! सम्यक्त्व ही परम कल्याणकारी है। सिंह टकटकी लगाकर मुनि के समक्ष देखने लगा, मानों पश्चाताप से अपने पूर्वभव पूछ रहा हो; अत: मुनिराज ने उसके वासुदेव आदि पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनाया।

श्री मुनिराज के मुख से झरती हुई परम वैराग्यवाणी में अपने पूर्वभवों का वर्णन सुनकर सिंह के परिणामों में महान परिवर्तन होने लगा; उसे जातिस्मरण हुआ और समस्त दु:खों के कारणरूप मिथ्यात्व-कषायों से उसकी परिणति पराङ्मुख होने लगी। वाह रे वाह ! धन्य सिंह-शार्दूल ! अब तेरा चैतन्य पराक्रम जागृत होने लगा है। **सचमुच हिंसा में पराक्रम नहीं है, अहिंसा एवं शान्ति में ही सच्चा पराक्रम है।**

मुनिराज कह रहे हैं – हे भव्य ! हम तुम्हें एक विशेष सुखदायी बात बतलाते हैं, तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो ! अब इस भव में तुम्हारा आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त करके आत्मा की अखण्ड साधना करेगा और क्रमश: उन्नति करते-करते पूर्णता साधकर इस भरतक्षेत्र में चौबीसवाँ तीर्थंकर बनेगा। यह बात हमने विदेहक्षेत्र में सीमन्धर स्वामी के श्रीमुख से सुनी है; इसीलिये हमें तुम्हारे प्रति स्नेह जागृत हुआ है।

अहो ! सिंह का भव्य आत्मा यह सुनते ही हर्षपूर्वक नाच उठा....वाह! मैं अब इन भयंकर दु:खों से तथा हिंसा से छूटकर अपूर्व सुख प्राप्त करूँगा। दु:ख से छूटने की बात सुनकर कौन आनन्दित नहीं होगा ? ...मुनियों ने वात्सल्य प्रगट किया, उससे तो वह अति आह्लादित हो उठा – अहा ! मुनिवर मुझे सम्यक्त्व प्राप्त कराने आये हैं, मुझ पर कृपा करके वे आकाशमार्ग से उतरकर मुझे प्रतिबोध देने आये हैं। वाह ! तीर्थंकर के श्रीमुख से मेरे भावी तीर्थंकरत्व की मंगलवाणी निकली।

मुझ जैसा भाग्यशाली कौन होगा ? इससे उत्तम मंगल और क्या होगा? ....बस, सिंह तो सब भूल गया और अन्तर चैतन्य की महिमा में इसप्रकार निमग्न होने लगा मानों वर्तमान में ही तीर्थंकर बन गया हो। उसकी परिणति में कषाय से भिन्न शान्ति की तरंगें उठने लगीं; उसका अन्तर वैराग्य से उछलने लगा; परिणति कषाय से भिन्न होकर चैतन्यशान्ति का वेदन करने हेतु अन्तर्मुख हो गई; उसके परिणाम विशुद्ध होने लगे। इसप्रकार भावी तीर्थंकर – ऐसा वह सिंह उपयोग की एकाग्रता से सम्यक्त्व-ग्रहण की ओर झुक रहा है। अपना शान्त चैतन्यतत्त्व देखने पर ही उसका लक्ष्य है। आँखें मूँदकर ज्ञान को स्थिर करके निजस्वरूप को देखने के लिये उसका उपयोग उत्सुक हो उठा है। बस, अब अधिक देर नहीं है।

श्री मुनिराज उसे शुद्धात्मा की देशना दे रहे हैं – भो भव्य ! तुम एकाग्रचित्त से सुनो। यह जीव अनादि-अनन्त सदा उपयोग स्वरूप है, चेतनरूप द्रव्य से, गुण से, पर्याय से शुद्धोपयोगी जैसे अरिहन्त हैं, परमार्थत: यह आत्मा भी वैसा ही उपयोग स्वरूप है; ऐसे आत्मा को तुम अनुभव में लो....तुम्हें महा-आनन्दरूप सम्यक्त्व होगा और परमशान्ति का वेदन होगा, तुम इस भवदु:ख से छूट जाओगे।

श्री मुनिराज जो कह रहे हैं उसे 'श्रवण' करने की अपेक्षा वैसे भावों के 'वेदन' के प्रति अब सिंह का उपयोग विशेष कार्य कर रहा है। सम्यक्त्व के लिये आवश्यक तीन करणों की विशुद्धता उसे होने लगी है....राग से हटकर उसका उपयोग अब अतीन्द्रिय शान्ति की ओर जा रहा है.... अहा ! ऐसा अद्भुत शान्त मेरा आत्मा ! ऐसे अन्तर वेदन से उसे अपूर्व शान्ति प्रगट होती जा रही है....शान्ति के समुद्र में उपयोग अधिकाधिक गहराई में उतरता जा रहा है....मुनिवर तो आश्चर्य से सिंह का हृदय परिवर्तन देखते ही रह गये। इतने में, सिंह की परिणति ने चैतन्यरस की प्रबलता से कोई ऐसी छलाँग लगाई कि कषायों से पार होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय भाव में जा पहुँचा और शान्तरस के समुद्र में निमग्न हो गया....।

उसे निज परमात्मा का सम्यक् दर्शन प्रगट हुआ। अहा ! उस क्षण के आनन्द का क्या कहना ? सम्यक्त्वरूपी सिंह ने मिथ्यात्वरूपी उन्मत्त हाथी को भगा दिया और मोक्षसाधना का शौर्य प्रगट किया। उसकी अपूर्व शान्तिमय चेष्टा से मुनिराज उसकी स्थिति समझ गये। चैतन्य की ऐसी अपूर्व शान्ति देखकर क्षणभर वे भी निर्विकल्प रस में निमग्न हो गये। वाह ! इधर मुनिवर

ध्यान में लीन होकर बैठे हैं, सामने सिंह भी निर्विकल्प होकर सम्यक्त्व प्राप्ति के धन्य क्षण का अपूर्व आनन्द ले रहा है.....वाह रे वाह ! धन्य गुरु ! धन्य शिष्य ! धन्य निर्विकल्पता का आनन्दोत्सव !

क्षणभर के लिये सारा वन प्रदेश स्तब्ध रह गया....वह भी मानों निर्विकल्पता में झूलने लगा। वन के जो पशु पहले भयभीत होकर भागते थे, वे भी सिंह की नवीन शान्त चेष्टा देखकर आश्चर्य से स्तम्भित हो गये। कुछ देर बाद जब सिंह ध्यान से बाहर आया और मुनिवरों की ओर देखा तथा मुनिवरों ने भी मधुर दृष्टि से देखकर उस सम्यग्दृष्टि सिंह की पीठ पर हाथ रखा, तब उसकी आँखों में आँसू भर आये....वे आँसू दु:ख के नहीं; किन्तु हर्ष के थे।

अगले पाँवोंरूपी दो हाथ जोड़कर मुनियों की वन्दना करता हुआ वह सिंह मानों उपकार व्यक्त कर रहा था, वहाँ भाषा भले ही नहीं थी; परन्तु भावों द्वारा वह मुनिराज की अपार भक्ति कर रहा था....'अहो मुनिराज ! आपके प्रताप से मैं भवदु:ख से छूटकर ऐसे अपूर्व आत्मानन्द को प्राप्त हुआ' और जब मुनिराज ने उसके मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद देकर वात्सल्य प्रगट किया तब तो मानों वह कृतकृत्य हो गया। अहा ! मोक्षगामी मुनिवरों का हाथ जिसके मस्तक पर फिरा और आशीर्वाद मिला, उस भव्य के हर्षानन्द का क्या कहना ? उसके तो भव के फेरे टल गये.... और मोक्ष की बारी आयी।

मुनिराज ने कहा – हे सिंह ! तुम सम्यग्दर्शन पाकर धन्य हुए; अब तुम्हारे मिथ्यात्वजन्य पाप धुल गये; तुम मोक्ष के साधक बने। वाह ! तुम्हें देखकर हमें वात्सल्य भाव आता है।

सिंह का अन्तर भी आनन्द से नाच उठा, उसने खड़े होकर मुनिराज के चरणों में मस्तक झुकाया और धीरे-धीरे चलकर उनकी प्रदक्षिणा करने लगा।

वाह रे सिंह ! तुझे भी ऐसी भक्ति करना आ गया ! 'यह तो अन्तर में हुए सम्यक्त्व का प्रताप है।' अहो ! उस सिंह की भक्ति-चेष्टा ही उसके सम्यक्त्व प्राप्ति के परम उल्लास को प्रगट कर रही थी। अन्तर में उसने अनुभव किया कि अहा यह क्रोध तथा यह सिंहपर्याय मैं नहीं हूँ; **मैं तो सदा उनसे भिन्न, ज्ञान-दर्शन-आनन्द स्वरूप हूँ।** अरे रे ! यह हिंसा और यह मांस भक्षण मुझे शोभा नहीं देता। मेरा चेतनतत्त्व तो सुन्दर, शान्त स्वरूप है। **सम्यग्दर्शनरूप अति गहरी चैतन्य-कन्दरा में जाकर, उपशान्तभावरूप तीक्ष्ण पंजों से मैंने मिथ्यात्व एवं कषायों रूप मदोन्मत्त हाथी को मार दिया है; अब विशेष शुद्धोपयोग की दूसरी छलाँग लगाकर मैं संयम के पर्वत पर चढ़ जाऊँ, उसी में मेरा सच्चा शौर्य, शार्दूलपना है।** वाह ! श्री मुनिराज के श्रीमुख से झरते हुए जिनवचन समान उपकारी इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। जिसका कभी बदला नहीं दिया जा सके – ऐसा महान उपकार सम्यक्त्व देकर इन मुनिवरों ने मुझ पर किया है। – ऐसा सोचकर अगले पैरोंरूपी पंजों द्वारा बारम्बार हाथ जोड़कर नतमस्तक हो, वह मुनिवरों को नमस्कार करने लगा; उसका चित्त अति प्रशान्त हो गया; उसे संसार से निर्वेद और मोक्षमार्ग के प्रति संवेग हुआ।

श्री मुनिराज ने पुनः कहा – हे सिंहराज ! हे धर्मात्मा ! अपूर्वभाव से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अब तुम परमशान्त भाव द्वारा क्रोध-मान-माया-लोभ का भी निवारण करना; उपसर्ग या परिषहों से डरे बिना उन्हें शूरवीरता से सहन करना। वीतरागी पंच परमगुरुओं को सदा हृदय में रखकर उनकी महिमा करना। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रताप से तुम्हारे पाप कर्म नष्ट हुए हैं तथा प्रशम-संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा के विशुद्ध परिणामों से तुम्हारा आत्मा उज्ज्वल बना है। अनादि से कर्म के आस्रव-बन्ध में वर्तते हुए तुम्हारे आत्मा को अब कर्मों के संवर-निर्जरा प्रारम्भ हुए हैं। अहा ! मोक्ष के मार्ग में आकर तुम धन्य हुए हो; अब निरन्तर ऐसा सुन्दर जीवन जीना; ताकि तुम्हारे अन्तर की विशुद्धता वर्धमान होती रहे। हे भव्य शार्दूल ! अब तुम्हारी आयु मात्र एक मास शेष है। आनेवाले दसवें भव में तुम भारतवर्ष में जगदोद्धारक जिनेश्वर महावीर बनोगे। यह बात हमने 'कमलाधर' (लक्ष्मीधर, श्रीधर अथवा सीमन्धर) जिनेन्द्र के श्रीमुख से सुनी है। इसप्रकार मुनिवरों ने अत्यन्त वात्सल्य से सिंह को सम्बोधन किया।

वाह ! देखो तो सही, जिसप्रकार मनुष्य के साथ बातें करते हों तदनुसार मुनिराज सिंह के साथ बात कर रहे हैं और महाभाग्यवन्त सिंह भी मनुष्य की भाषा समझ रहा है। अहा ! जिसके सम्बोधन को आकाश से मुनिराज उतरे हों और जिनेश्वर देव की वाणी में जिसके तीर्थंकरत्व की घोषणा हुई हो, उसकी पात्रता का क्या कहना ? वाह रे वाह ! वनराज !! अब तो तुम 'जिनराज' हो – भावी जिनराज हो।

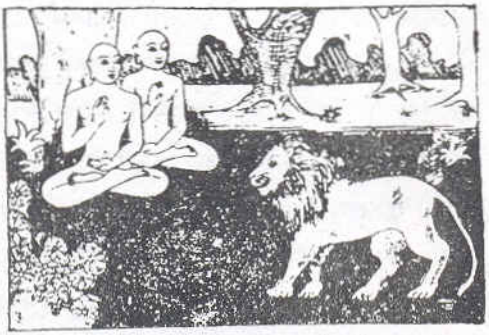

श्री मुनिवर की बात सुनकर तथा अपनी आयु अब मात्र एक मास शेष जानकर सिंह को परम वैराग्य हुआ। बोधिलाभ का जिसे महान आनन्द है और संसार से जिसका चित्त सर्वथा विरक्त हुआ है – ऐसे उस सिंह ने साधकभाव का शौर्य जागृत किया; मुनिवरों के समक्ष उसने बोधिसहित समाधि सल्लेखना धारण की; आहार-जल का सर्वथा त्याग करके सल्लेखना धारण की; आहार-जल का सर्वथा त्याग करके अनशनव्रत अंगीकार किया।

वाह रे सिंह ! तुम्हारा सच्चा शौर्य जागृत हो उठा। (पाठक आत्माओ ! क्षणभर पहले जो क्रूर मांसाहारी सिंह था वह कुछ ही समय पश्चात् चैतन्य की आराधना का शौर्य प्रगट करके कैसा शान्त हो गया है, उसका वर्णन पढ़ते हुए भी हमें उसके प्रति प्रेम उमड़ता है। **हम सबके आत्मा (स्वभाव) में भी चैतन्य का ऐसा शौर्य विद्यमान है; सिंह समान वीर बनकर उस शौर्य को जागृत करो। महावीर का मार्ग वह चैतन्य के शौर्य का मार्ग है; उस मार्ग की साधना हेतु वीर बनो....महान वीर बनो।**)

प्रशमरस में रत हुआ सम्यग्दृष्टि सिंह विचारता है कि अहा ! मुझे प्रतिबोध देने हेतु ही यह मुनिराज करुणा करके यहाँ पधारे हैं; मुझ पर अचिन्त्य उपकार किया है। मेरे पास तो ऐसा कुछ नहीं है कि मैं इनकी सेवा करूँ, मेरी यह पर्याय ऐसी नहीं है कि मैं उन्हें आहारदान दे सकूँ। मुनिवर तो अत्यन्त निःस्पृह होते हैं। इसप्रकार उपकार का चिन्तवन करता हुआ सिंह बारम्बार मुनिवरों के चरणों में

मस्तक झुकाने लगा....और मानों भक्ति के जल से उनके पग धोता हो। – इसप्रकार उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

सिंह को प्रतिबोध देने का अपना प्रयोजन पूर्ण हुआ – ऐसा समझकर वे मुनिवर वहाँ से प्रस्थान की तैयारी करने लगे....मधुर दृष्टि से सिंह की ओर देखकर धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देकर तथा उसके अयाल पर पींछी फेरकर वे मुनिवर आकाशमार्ग से विहार कर गये।

सिंह अश्रुभीगी आँखों से अत्यन्त प्रेमपूर्वक दूर-दूर तक देखता ही रहा।....अहो ! मुझे भवसमुद्र से पार करने वाले मेरे उपकारी गुरु आकाशमार्ग से चले जा रहे हैं। कुछ देर में मुनिवर अदृश्य हो गये; तथापि मानों अब भी उनका पवित्र हाथ अपने मस्तक पर रखा हो। – इसप्रकार वह उनके गुणचिन्तन में लीन रहा। सिंहराज का जीवन आज पलट गया; मानों उसका आत्मा सम्पूर्ण नवीन बन गया; उसका अन्तर क्रूरता के बदले शान्तरस में सराबोर हुआ; उसकी चेतना परभाव से छूटकर शान्त चैतन्यरस में निमग्न होकर शोभा देने लगी। मुनिराज के जाने से उसका चित्त व्यथित हुआ। अरे ! **ऐसे उपकारी सत्पुरुष के विरह में कौन व्यथित नहीं होगा ?** अन्त में जिसकी चैतन्य की साधनामय उत्तम चेष्टाएँ हों, ऐसे उस मृगराज ने चैतन्य की अद्भुतता के चिन्तन में अपना चित्त लगाकर, पुन: निर्विकल्प उपयोग द्वारा हृदय से मुनि-वियोग का शोक दूर किया और साथ ही हिंसादि पाँचों पापों को भी दूर भगा दिया। व्रतधारी उत्तम श्रावक होकर उसने अनशन पूर्वक सल्लेखना-व्रत धारण किया और श्री मुनिवरों के पवित्र चरणों से पावन हुई, निर्दोष शिला को तीर्थरूप मानकर उस पर 'सल्लेखना-मरण' रूप समाधि लगाई।

पाषाण-शिला पर वह एक ही करवट बैठा रहता और किंचित् भी हलन-चलन नहीं करता था। उसने अपने आत्मा को चैतन्यस्वभाव में तथा पंचपरमेष्ठी

के गुणचिन्तन में लगा दिया। उसकी लेश्या और अधिक शुद्ध होने लगी, कषाय परिणाम बिल्कुल शान्त हो गये। ग्रीष्म की अति ऊष्ण वायु से उसका शरीर सूख रहा था, सूर्य की प्रखर किरणें उसे जला रही थीं; तथापि उसके मन में कोई क्लेश नहीं था। ऐसे तीव्र ताप में भी उसने जल का त्याग कर दिया था। अन्तर में चैतन्य का शान्तरस उसके भवताप को शीतल कर रहा था, फिर बाह्य जल की क्या आवश्यकता थी ? 'मैं चलूँगा-फिरूँगा तो वन के जीव मुझे जीवित समझकर भयभीत होंगे' – ऐसा सोचकर वह चलता-फिरता नहीं था। उसे निश्चेष्ट पड़ा देखकर 'यह सिंह मर गया है' – ऐसा मानकर मदमस्त हाथी उसके अयाल को नोंच डालते थे; तथापि मोक्ष के इच्छुक ऐसे मुमुक्षु-सिंह ने तो सहनशीलता ही धारण कर ली थी। अरे ! जिसकी एक गर्जना से हाथियों की टोली दूर भागती थी, वह हाथियों का शत्रु आज तप-आराधना रूपी टंकार से कर्मरूपी हाथी को दूर भगा रहा था। वाह रे सिंह भाई ! धन्य है तुम्हारी आराधना !

शरीर से भिन्न चैतन्यतत्त्व को जानकर, जिसने शरीर का ममत्व सर्वथा छोड़ दिया है – ऐसे उस सिंहराज ने एक महीने तक धैर्यपूर्वक क्षुधा-तृषा सहन किये; काया के साथ कषाय भी क्षीण हो रही थी; जिनमार्ग की आराधना में उसका उत्साह बढ़ता जा रहा था। अहा ! उस वनराज की शान्त चेष्टाओं से प्रभावित होकर वन के हिरन, खरगोश और बन्दर आदि प्राणी भी निर्भय होकर उसके पास बैठने लगे और उसका आश्चर्यकारी परिवर्तन देखने लगे।

प्रशम-शान्ति की गहरी कन्दरा में रहे हुए उस वनराज को बाह्य उपद्रव कोई बाधा नहीं पहुँचा सके। उसे मरा हुआ मानकर गीदड़ और लोमड़ी जैसे तुच्छ जंगली प्राणी भी उसे नाखूनों से चीर-चीर कर खाने लगे, गिद्ध और कौए भी चोंच मार-मारकर चींथने लगे; तथापि उसने अपनी समाधि भंग नहीं की और न उन प्राणियों को भगाने का प्रयत्न किया। अहा ! क्षमावान जीवों को कौन डिगा सकता है ?

इसप्रकार उज्ज्वल परिणामी और आत्म-आराधना में शौर्यवान – ऐसा वह वनराज सहित शरीर का त्याग करके उसी क्षण सौधर्म स्वर्ग के मनोहर विमान में हरिध्वज (सिंहकेतु) नामक देव हुआ।

सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु देव (नौवाँ पूर्वभव – सम्यक्तोपरान्त)

सिंह-पर्याय में सम्यक्त्व प्राप्त करके, सल्लेखनासहित समाधिमरण करके, सौधर्म स्वर्ग में हरिध्वज देवरूप से अवतरित हुए अपने चरित्र नायक को देखते ही स्वर्ग के देव जय-जयकार करने लगे। मंगलवाद्य बजने लगे; देव-देवांगनाओं ने जिनेन्द्र पूजन सहित मंगल उत्सव किया। अहो ! सम्यक्त्व सहित विशुद्धि का फल अद्भुत है ! उस हरिध्वज अथवा सिंहकेतु देव ने अवधिज्ञान द्वारा जान लिया कि मैं पहले सिंह पर्याय में था और दो मुनिराजों ने प्रतिबोध देकर मुझे धर्म प्राप्त कराया; उन्हीं के प्रताप से मैं यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ; मुझ पर उनका महान उपकार है। इसप्रकार मुनिराजों के उपकार का चिन्तवन करता हुआ वह देव अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिवरों के पास आया और कल्पवृक्ष के अचेतन दिव्यपुष्पों द्वारा उनकी पूजा करके बोला – हे प्रभो ! एक मास पूर्व आपने जिस सिंह को प्रतिबोध दिया था मैं वही हूँ; समाधिमरण करके मैं सिंह से सौधर्म स्वर्ग का देव हुआ हूँ और आपके उपकार का स्मरण होने से आपके दर्शन करने आया हूँ। हे प्रभो ! आपके प्रसाद से तीनलोक में श्रेष्ठ चूड़ामणि समान सम्यक्त्व प्राप्त करके मैं कृतकृत्य हुआ हूँ....साधुजनों का सत्संग किसे हितकर नहीं होता ? ऐसा कहकर उसने अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरणों की रज अपने मुकुट पर चढ़ायी – मानों कोई अमूल्य निधान चढ़ा रहा हो।

एक ओर वह देव, पूजा-भक्ति की विधि सहित मुनिवरों की प्रशंसा कर रहा है, उधर मुनियों का लक्ष्य तो अपने चैतन्य की ओर ही स्थिर है। देव क्या कह रहा है, उसका उन्हें लक्ष्य नहीं है; वे तो निन्दा-प्रशंसा में समताभाव रखकर, शुद्धोपयोग द्वारा चैतन्य के ध्यान में लीन होकर क्षपकश्रेणी पर चढ़ रहे हैं....शीघ्रतापूर्वक एक के बाद एक आठवें, नौवें, दसवें गुणस्थान पर चढ़ते हुए मोहकर्म का नाश कर रहे हैं। अभी वह हरिध्वज देव मुनिवरों के समक्ष खड़ा-खड़ा उनकी भक्ति कर ही रहा है कि इतने में उन मुनिवरों ने मोह का सर्वथा क्षय करके, क्षायिकभाव पूर्वक केवलज्ञान प्रगट किया। अहा ! आनन्दमय महान उत्सव हुआ, चारों ओर दिव्यता फैल गई। अपने सामने ही अपने परमगुरुओं को केवलज्ञान होता देखकर 'हरि' तो परम-आनन्दसहित नाच उठा।...अहो ! सर्वज्ञ परमात्मा का साक्षात्कार होने से हरि को जो आनन्द हुआ उसका क्या कहना ! अत्यन्त

हर्षोल्लासपूर्वक केवलज्ञान का मंगल-उत्सव तथा उन दोनों केवली भगवन्तों की पूजा एवं दिव्यध्वनि का श्रवण करके वह हरिध्वज देव सौधर्म स्वर्ग चला गया।

जिसके अन्तर में सम्यक्त्वरूपी महान सम्पदा विद्यमान है – ऐसे उस देव का चित्त स्वर्ग की दैवी सम्पदा में भी आकर्षित नहीं होता। बारम्बार स्वर्ग से धरती पर आकर सर्वज्ञ परमात्मा की भक्ति एवं बहुमानपूर्वक शुद्धात्म तत्त्व की बात श्रवण करके अपनी स्वानुभूति को पुष्ट करता है। इसप्रकार भगवान महावीर के जीव ने अखण्ड आत्म-आराधनापूर्वक सौधर्म स्वर्ग में असंख्यवर्ष व्यतीत किये।

कनकध्वज राजा और आठवें स्वर्ग में देव (८वाँ तथा ७वाँ पूर्वभव)

स्वर्ग से चयकर वह हरिध्वज (सिंहकेतु) देव, विदेहक्षेत्र में कनकप्रभ राजा का पुत्र हुआ; उसका नाम था कनकध्वज। उसके युवा होने पर पिता ने उसे राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। अपने चरित्र नायक राजा कनकध्वज एकबार सुदर्शन वन में यात्रा करने गये। सुन्दर वृक्षों और फल-फूलों से भरे हुए उद्यान की शोभा निहारते हुए आगे बढ़े कि एक बड़ी शिला पर छोटे-से, किन्तु महान तेजस्वी मुनिराज को ध्यान में बैठे देखा। अहा! कितनी अद्भुत थी उनकी मुद्रा! अन्तरंग अतीन्द्रिय शान्ति की दिव्य झलक उनकी मुद्रा पर दृष्टिगोचर होती थी। राग-द्वेष को नष्ट करके, वीतरागता द्वारा वे सुशोभित हो रहे थे। क्षमाभाव एक क्षण को भी विस्मरण नहीं करते थे। उनके रत्नत्रय के प्रभाव से आस-पास के वृक्ष भी फल एवं पुष्पाच्छादित हो उठे थे। – ऐसे मुनिराज को देखकर कनकध्वज ऐसे प्रसन्न हुए जैसे उन्हें किसी अपूर्व निधान की प्राप्ति हुई हो।

अत्यन्त हर्ष से जिनका रोम-रोम उल्लसित हो रहा है – ऐसे राजा ने मुनिराज के चरणों में नमस्कार किया और अति अनुराग सहित उनके समीप बैठ गये। मुनिराज ने शान्त दृष्टि से राजा को देखा और 'राजन! धर्मवृद्धि हो!' ऐसे आशीर्वचनों द्वारा उन पर परम अनुग्रह किया। अहा! धर्मात्मा को देखकर मुनिवर भी प्रसन्न होते हैं!

मुनिराज बोले – हे महाभाग! तुम सम्यक्त्वरूपी मुकुट से तो अलंकृत हो ही, अब उस पर चारित्ररूपी कलगी चढ़ाओ।

मुमुक्षु राजा को स्वयं भी चारित्र की भावना तो थी ही; उसमें मुनिराज की प्रेरणा मिलने से उन्हें अत्यन्त उल्लास हुआ। अति वैराग्यपूर्वक हाथ जोड़कर बोला – 'हे प्रभो ! यह जीव संसार में अनन्तबार पंचपरावर्तन कर चुका है, अब उस परावर्तन से बस होओ ! श्रुतज्ञान के सारभूत ऐसी चारित्रदशा को मैं आज ही अंगीकार करूँगा। ऐसा कहकर राजा ने उसीसमय चारित्रदशा अंगीकार कर ली; मुनि होकर शुद्धोपयोग द्वारा आत्मा को ध्याने लगे। **ठीक ही है कि महापुरुष अपने हितकार्य को सिद्ध करने में विलम्ब नहीं करते।** 'कनक' को छोड़कर जिन्होंने 'सुन्दर रत्न' ग्रहण किये हैं – ऐसे वे मुनिराज कनकध्वज मुनिसंघ में अति सुशोभित होने लगे; वीतरागभाव द्वारा अनेक परिषह सहने लगे। अन्त में चार आराधना के अखण्ड पालनपूर्वक आयु पूर्ण करके आठवे स्वर्ग में गये।

वे धर्मात्मा स्वर्गलोक में भी देवों को आनन्द प्राप्त कराते थे, जिससे 'देवानन्द' उनका नाम सार्थक था। चौदह सागरोपम के असंख्य वर्षों तक जिनमार्ग के प्रभाव द्वारा असंख्य देवों को आनन्द देकर वे देवानन्द अपनी आत्म-आराधना को आगे बढ़ाने के लिये पुनः मनुष्य लोक में अवतरित हुए।

हरिषेण राजा और पश्चात् स्वर्ग में देव (७वाँ और ६वाँ पूर्वभव)

बन्धुओ ! आप भगवान महावीर के पूर्वभवों का वर्णन पढ़ रहे हैं। अब उनके मात्र सात ही भव शेष हैं - उनमें तीन भव तो देव के हैं और अन्य चार भव उत्तम रत्नत्रय धर्म की आराधना सहित मनुष्य के हैं; जिनमें एक चक्रवर्ती का भव है और एक तीर्थंकर का अवतार है। वीरप्रभु के आत्मा द्वारा की गई उस आराधना को देखकर तुम्हें भी आराधना का उत्साह जागृत होगा और उस आराधना में आत्मा को लगाने से तुम्हें सर्वज्ञ महावीर का साक्षात्कार होगा ! सर्वज्ञ महावीर के साक्षात्कार के साथ ही उनके जैसे अपने परम-आत्मा की स्वानुभूति रूप साक्षात्कार होने पर जो अतीन्द्रिय परम आनन्द होता है, उसका क्या कहना ? **अहा ! वह तो मोक्षसुख की वानगी है और वही मंगल निर्वाण-महोत्सव है।**

जो जानता महावीर को, चेतनमयी शुद्धभाव से।
वह जानता निज-आत्म को, सम्यक्त्व ले आनन्द से॥

अपने चरित्र नायक का परिणमन अब मोक्ष की ओर तीव्रगति से हो रहा है। आठवें स्वर्ग से एक समय में असंख्य योजन की गति से वे मनुष्य लोक में आये और उज्जयिनी नगरी में वज्रधर राजा के पुत्ररूप में अवतरित हुए; उनका नाम हरिषेण था। एकबार जैनाचार्य श्रुतसागरजी महाराज उज्जयिनी नगरी में पधारे; उनका वैराग्य रस से सराबोर धर्मोपदेश सुनकर महाराजा वज्रधर संसार से विरक्त हुए और हरिषेण कुमार को राज्य सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

हरिषेण कुमार जो कि सम्यग्दर्शन तो पूर्वजन्म से ही लेकर आये हैं, उन्होंने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। पाप के कारणभूत ऐसे विशाल राज्य में रहने पर भी वे महात्मा कमलवत् ऐसे अलिप्त थे कि पाप उन्हें स्पर्श तक नहीं करते थे; उनका चित्त सर्वत्र निःस्पृह रहता था। अहो ! साधक की ज्ञानचेतना कोई अद्भुत आश्चर्यकारी है। **जिसप्रकार चन्दन सर्पों के बीच रहकर भी अपनी शीतलता को नहीं छोड़ता अर्थात् विषरूप नहीं होता, उसीप्रकार विष समान विभिन्न राग-संयोगों के बीच रहने पर भी धर्मात्मा की ज्ञानचेतना अपने शान्तस्वभाव को छोड़कर राग-रूप नहीं होती।**

राजा हरिषेण एक दिन संसार से विरक्त हुए और जिनदीक्षा लेकर तपोवन में जाकर प्रशान्तरस में निमग्न हो गये। उन मुनिराज ने आयु के अन्त में समाधिपूर्वक शरीर का त्याग करके महाशुक्र स्वर्ग को अलंकृत किया। वे प्रीतिवर्धन विमान में सोलह सागर आयु के धारी देव हुए।

विदेहक्षेत्र में प्रियमित्र चक्रवर्ती पश्चात् बारहवे स्वर्ग में देव
(चौथा और तीसरा पूर्वभव)

अपने चरित्र नायक भगवान महावीर अन्तिम भव में धर्मचक्री होंगे; उससे पूर्व वे विदेहक्षेत्र में राजचक्रवर्ती हुए। स्वर्ग से वे महात्मा विदेह की क्षेमद्युति नगरी में धनंजय राजा के घर पुत्ररूप में उत्पन्न हुए, उनका नाम था प्रियमित्र।

एक दिन राजा धनंजय ने संसार से विरक्त होकर पुत्र प्रियमित्र को राज्य सौंप दिया और स्वयं स्वभावमय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करके तप द्वारा सुशोभित हुए। राज्यलक्ष्मी छोड़कर तपलक्ष्मी द्वारा वे अधिक शोभायमान हो रहे थे।

इधर राजा प्रियमित्र विशाल राज्य के साथ-साथ शुद्धसम्यक्त्व सहित अणुव्रतों का भी पालन करते थे और जगत को यह प्रत्यक्ष कर रहे थे कि इतने बड़े राज्यभार के बीच भी आत्मा की आराधना हो सकती है। आत्मा की जितनी महिमा धर्मी के अन्तर में है उतनी किसी और को नहीं है। एकबार उनके शस्त्र भण्डार में चक्रवर्ती पद के वैभव का सूचक सुदर्शन चक्र प्रगट हुआ; परन्तु उससे वे किंचित् भी आश्चर्यचकित नहीं हुए। अहा ! तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ एवं सुन्दर ऐसा चैतन्यरत्न जिन्होंने स्वानुभूति से प्राप्त कर लिया है, उन महात्मा को जगत के जड़रत्नों से क्या आश्चर्य होगा ? मोक्षसाम्राज्य प्रदान कराने वाला सम्यग्दर्शनरूप सुदर्शनचक्र, जिनके अन्तर में निरन्तर चल रहा है, उन्हें बाह्य पौद्गलिक सुदर्शनचक्र की क्या महत्ता लगेगी ? वे धर्मात्मा प्रियमित्र जानते थे कि यह बाह्यवैभव की प्राप्ति कोई मेरी चैतन्य-आराधना का फल नहीं है; परन्तु आराधना के साथ रहने पर भी उससे भिन्न जाति का ऐसा जो राग, उसका यह फल है। अरे ! जिसके साथ रहनेवाले राग का भी ऐसा आश्चर्यकारी बाह्य फल है तो उस रागरहित आराधना के अन्तरंग फल का तो कहना ही क्या ? उस फल का स्वाद तो धर्मात्मा ही ले सकते हैं और उसके समक्ष जगत के समस्त वैभव बिल्कुल नीरस लगते हैं।

चक्ररत्न प्राप्त होने पर उन महाराजा प्रियमित्र ने विदेहक्षेत्र के छहों खण्डों की दिग्विजय की; छह खण्ड में रहनेवाले समस्त मनुष्य, विद्याधर एवं देवों को भी उन्होंने वश में कर लिया। चौदह रत्न एवं नवनिधान के उपरान्त सोलह हजार देव और बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा उनकी सेवा करते थे; उनकी छयानवे हजार रानियाँ तथा छयानवे करोड़ पैदल, लाखों उत्तम गज आदि विशाल सेना थी; तथापि '**इस विषय सामग्री में जीव को तृप्ति देने का गुण कदापि नहीं है; यह सब तो आकुलता देनेवाले हैं। एक चैतन्यतत्त्व ही जीव को सच्ची तृप्ति एवं शान्ति प्रदान करता है**' – ऐसा वे धर्मात्मा जानते थे; इसलिये भोगों में कहीं मूर्च्छित नहीं होते थे; जल में कमलपत्र की भांति अलिप्त रहते थे।

चक्रवर्ती के चौदह रत्न एवं नवनिधान आदि वैभव का वर्णन करके शास्त्रकार ऐसा बतलाना चाहते हैं कि हे जीवो ! देखो, यह सब तो उस जीव के रागादि औदयिक भावों का बाह्य फल है, उसीसमय उनके अन्तर में स्वाभाविक चेतना के जो भाव (सम्यक्त्वादि) वर्त रहे हैं, वे कैसे हैं और उनका फल कैसा सुन्दर

है ? उनका स्वरूप जानोगे तभी तुम धर्मात्मा के जीवन को भलीभाँति जान सकोगे और उसे जानने का सम्यक् फल आयेगा। मात्र औदयिक भाव को ही देखने से ज्ञानी का सच्चा स्वरूप जानने में नहीं आता....इसलिये बारम्बार कहते हैं कि चेतनभाव से भगवान को पहिचानो, उदयभाव से नहीं।

उन प्रियमित्र महाराजा ने तेरासी लाख पूर्व के दीर्घकाल तक चक्रवर्ती पद पर रहकर प्रजा का पालन किया। पश्चात् एकबार दर्पण में मुख देखते समय कान के पास श्वेत केश देखकर उनका चित्त संसार से विरक्त हुआ। संसार से विरक्त वे प्रियमित्र चक्रवर्ती बारह वैराग्य भावनाएँ भाते हुए क्षेमंकर जिनेन्द्र भगवान के समवसरण में पहुँचे। सर्वज्ञता से सुशोभित वीतराग जिनेन्द्र देव के दर्शन से उनका प्रशमभाव दुगुना हो गया। उन्होंने अत्यन्त भक्ति पूर्वक जिनेन्द्र भगवान के श्रीमुख से मोक्षमार्ग का श्रवण किया। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र जो कि महा आनन्दमय मोक्ष का कारण है, तद्रूप अपना ही शुद्धस्वभाव परिणमित होता है; वे कहीं बाहर से नहीं आते और न कहीं उनमें राग है।

ऐसे वीतराग रत्नत्रय के आधाररूप शुद्ध आत्मा की अचिन्त्य अपार महिमा भगवान ने बतलायी। उसे सुनकर ज्ञान की अतिशय निर्मलतापूर्वक जिनेन्द्र भगवान के पादमूल में ही जिनदीक्षा लेकर उन्होंने चारित्रदशा के महान रत्नत्रय अंगीकार किये और चक्रवर्ती की अपार विभूति को तृणतुल्य छोड़ दिया। **अधिक लेकर अल्प छोड़ दिया, उसमें क्या आश्चर्य है ! मोक्ष के सारभूत निधान लेकर संसार के तुच्छ निधान छोड़ दिये, उन्होंने तो अल्प छोड़कर अधिक ले लिया; तथापि (आश्चर्य है कि) लोग उन्हें महान त्यागी कहते हैं। अहा ! सुख का सरोवर अपने में पाकर असत् ऐसे मृगजल की ओर कौन दौड़ेगा ?** चारित्रदशा का चैतन्य सरोवर प्राप्त करके चक्रवर्ती के विषय-भोगों को छोड़ना वह कोई बड़ी बात नहीं है। विदेहक्षेत्र में राजचक्रीपन छोड़कर जो मुनि हुए हैं और अब चौथे भव में भरतक्षेत्र में धर्मचक्री-तीर्थंकर होनेवाले हैं – ऐसे वे प्रियमित्र मुनिराज जगत में सर्वप्रिय थे और सर्वजीवों के हितकारी थे। उत्तम प्रकार से चारित्र पालन करके उन्होंने सल्लेखना पूर्वक शरीर का त्याग किया और उत्तम रत्नत्रय की आराधना करते-करते शेष रह गये किंचित् कषायकण के महान पुण्यफल का उपभोग करते हेतु सहस्रार नाम के बारहवें सूर्यप्रभ स्वर्ग में देवरूप

से उत्पन्न हुए। वहाँ यद्यपि उनको पुण्यजन्य वैभव अपार था; परन्तु अरे रे ! जो कषाय का फल है उसका कितना वर्णन करें।

कषायकलंक के उस फल का विस्तार करने से अथवा उसकी प्रशंसा सुनकर मुमुक्षु जीव लज्जित होते हैं, कि अरे ! हम अपने चैतन्य की शान्ति को साधनेवाले....उसके बीच कषाय तो कलंकरूप है। हम तो अपनी शान्ति का विस्तार करके चैतन्यवैभव की पूर्णता करें – यही हमारे लिये इष्ट है, अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है।

ऐसी भावनापूर्वक स्वर्ग के अपार तथापि अध्रुव वैभवों में से सूर्यप्रभ देव असंख्य वर्ष तक रहे; परन्तु आखिर देवपद भी तो अध्रुव ही है न ! अध्रुव ऐसे रागभावों का फल भी अध्रुव ही होगा न ! इसलिये ऐसी देवगति को छोड़कर ध्रुवपद की साधना के ध्येय से वे धर्मात्मा मनुष्यलोक में अवतरित हुए। जिस अवतार में अपने चरित्र नायक महात्मा ने उत्तम सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया, अब आप उस अवतार का वर्णन पढ़ेंगे।

नन्द राजा (तीसरा पूर्वभव)

(जिनदीक्षा, सोलहकारण भावना और तीर्थंकर प्रकृति का बंध, पश्चात् सोलहवें स्वर्ग में)

इस भरतक्षेत्र के पूर्वभाग में श्वेतनगरी है; वहाँ भव्यजीव मोक्षमार्ग की साधना करते हैं; वहाँ के जिनालयों की ऐसी अद्भुत शोभा है कि जिसे देखकर नास्तिक को भी श्रद्धा जागृत हो जाय। स्वर्ग से चयकर भगवान महावीर का जीव इसी नगरी के राजा नन्दिवर्धन का पुत्र हुआ; उसका नाम 'नन्दन' था (विभिन्न पुराणों के अनुसार 'नन्दन' तथा 'नन्द' – दोनों नाम स्वीकार किये गये हैं)। एक दिन वन-विहार करते समय श्रुतसागर नाम के एक जैन आचार्य को देखकर उन नन्दराजा को हार्दिक प्रसन्नता हुई और मोक्षमार्ग श्रवण करने की अभिलाषा से पूछा – हे स्वामी ! इस संसार समुद्र से छूटकर जीव मोक्षसुख रूप किनारा किसप्रकार प्राप्त करता है ?

मुनिराज तदनुसार प्रसन्नतापूर्वक इसप्रकार बोले – मानों उनके श्रीमुख से अमृत ही झरता हो – हे भव्य ! जब आत्मा भेदज्ञान द्वारा सम्यक्त्वादि शुद्धभावों

को प्रगट करता है; तब वह भवदु:ख से छूटकर मोक्षसुख प्राप्त करता है। मुनिराज का उपदेश सुनकर नन्दराजा अपना जीवन प्रसन्नतापूर्वक मोक्षसाधना में बिताते थे। उन्हें कोई अशुभ व्यसन तो था नहीं; मात्र एक ही व्यसन था देव-गुरु-धर्म की उपासना का। धर्म के चिन्तन बिना वे एक दिन तो क्या, एक क्षण भी नहीं रह सकते थे।

महाराजा नन्दिवर्धन ने यद्यपि नन्दकुमार को राज्य का कार्यभार सौंप दिया था; तथापि अब जिनके संसार का किनारा निकट आ चुका है – ऐसे नन्दराजा, **'सदननिवासी तदपि उदासी'** थे। राज्य एवं रमणियों के बीच रहने पर भी उनकी चेतना उन सबसे पृथक् ही रहती थी। निज-चेतना के सिवा उन्हें अन्यत्र कहीं सुख की कल्पना नहीं होती थी। एकबार महाराजा नन्दिवर्धन आकाश में मेघों की क्षणभंगुरता देखकर संसार से विरक्त हुए और पंचमगति-मोक्ष प्राप्त करने के लिये जिनदीक्षा अंगीकार की; पश्चात् ध्यानचक्र द्वारा कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान एवं मोक्ष पद प्राप्त किया।

पिता के वियोग से पुत्र 'नन्दन' यद्यपि शोकाकुल हो गया; **परन्तु कायर पुरुष ही शोक के आधीन होकर बैठे रहते हैं। बुद्धिमान धीर पुरुष तो शोक को छोड़कर स्वकार्य को सम्हालते हैं,** तदनुसार नन्द राजा ने राज्य का कार्यभार सम्हाल लिया। राज्य और धर्म दोनों के सहयोग पूर्वक कई वर्ष बीत गये। एकबार बसन्त ऋतु का आगमन होते ही वन-उपवन नवीन कोंपलों एवं पुष्पों से खिल उठे; उसी के साथ-साथ मानों रत्नत्रय-पुष्पों का उद्यान भी खिल गया हो....ऐसे 'प्रौष्ठिल' नाम के श्रुतकेवली मुनिराज का श्वेतपुरी के उपवन में आगमन हुआ। अहा ! कैसी उनकी अनुपम मुखमुद्रा ! मानों वे चैतन्य की शान्ति में निमग्न हों। शशक जैसे प्राणी आश्चर्य से उनकी ओर देख रहे हैं और उनके चरणों में बैठ गये हैं। ज्ञान के गम्भीर समुद्र, उन मुनिराज को देखकर नन्द राजा को अति आनन्द हुआ....।

अहा ! मोक्ष की जीवन्त मूर्ति ! भक्तिपूर्वक वन्दन करके नन्द राजा ने उन श्रुतकेवली से वीतरागता का उपदेश तथा अपने पूर्वभवों की बात सुनी। सर्वावधिज्ञानी एवं चरमशरीरी ऐसे उन श्रुतकेवली भगवान ने उनकी नरकदशा, वासुदेव पदवी, सिंहपर्याय में सम्यक्त्व प्राप्ति, चक्रवर्ती पद आदि पूर्वभवों का वर्णन करके कहा –

हे भव्यात्मा ! एक भव के पश्चात् तुम भरतक्षेत्र के चौबीसवें तीर्थंकर होकर मोक्षपद प्राप्त करोगे।

यह सब सुनकर नन्द राजा को भी अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण हुआ; उन्होंने अपने पूर्वभव चित्रपट की भाँति देखे तथा भविष्य की सुन्दर कहानी सुनकर उनका चित्त प्रसन्न हो गया। अहा ! मुमुक्षु को अपने मोक्ष की बात सुनकर चित्त में जो प्रसन्नता होती है, उसका क्या कहना ? हजारों प्रजाजन भी आनन्दविभोर होकर भावी तीर्थंकर की ऐसी महिमा एवं उत्सव करने लगे मानों वर्तमान में ही प्रभु के पंचकल्याणक हो रहे हों। पश्चात् श्री प्रौष्ठिल प्रभु ने नन्द राजा को मुनिदशा की परममहिमा बतलाते हुए कहा – **अहा ! आत्मसाधक वीर मुनिवरों के तपश्चरणरूपी रणसंग्राम में पापकर्मरूपी उद्धत शत्रु भी नहीं टिक पाते; शुद्धोपयोग-धनुर्धर उन सन्त को कोई जीत नहीं सकता, जिन्होंने मोह-लुटेरे को भगा दिया है और पंचपरमेष्ठी जिनके मार्गदर्शक हैं ऐसे मोक्षपथिक मुनिवर आत्मा की आराधना के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य में उलझते नहीं हैं, दीन नहीं होते और न राग-द्वेष करते हैं।** अहा ! ऐसे मोक्ष साधक मुनिवरों ने क्या मुक्ति को यहीं नहीं बुला लिया है ? **चारित्राराधना परमपूज्य है।** हे वत्स ! उसे तुम अंगीकार करो।

अहा ! मुनिराज के मुखचन्द्र से मानों वीतरागी अमृत झरता था। उसे झेलते हुए नन्द राजा के नयनों से आनन्द उमड़ने लगा। सम्यक्त्व से अलंकृत उनका आत्मा वैराग्यभावना द्वारा विशेष सुशोभित हो उठा...और तुरन्त ही उन्होंने प्रौष्ठिल आचार्य के निकट जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। तुच्छ राजलक्ष्मी को छोड़कर महान रत्नत्रयलक्ष्मी को 'ममत्वरूप से' धारण किया; बाह्य तथा अन्तर में निर्ग्रन्थरूप से शोभायमान होने लगे। **अहा ! वीतरागता द्वारा नग्न जीव जैसा सुशोभित होता है, वैसा क्या रागी वस्त्राभूषण द्वारा शोभता है ? नहीं, वीतरागता ही जीव की सच्ची शोभा है। इसीलिये तो मोक्षमार्गी जैन मुनियों को मोहरहित जो नग्नता है, उसे तत्त्वज्ञानियों ने मंगलरूप कहा है। वही मुनियों का सच्चा स्वरूप है।** ऐसे यथार्थ स्वरूप में अपने चरित्र नायक श्री नन्द मुनिराज सुशोभित होने लगे। – वन्दन हो उन नन्द मुनिराज को !

श्रीनन्द मुनिराज को विशुद्ध चारित्र के बल से कितनी ही लब्धियों सहित

ग्यारह अंगरूप श्रुतज्ञान का विकास हो गया। जिनका चित्त केवलज्ञान में संलग्न है ऐसे वे महात्मा, मात्र स्वानुभूति की ऋद्धि से ही ऐसे तृप्त थे कि अन्य किसी ऋद्धि का उपयोग नहीं करते थे। वाह रे वाह चैतन्यऋद्धि ! सचमुच, चैतन्यऋद्धि की तुलना जगत में कौन कर सकता है ? अहा ! प्रशान्त धर्मात्माओं का चारित्र तो आश्चर्य का स्थान है।

भावी तीर्थंकर ऐसे वे नन्द मुनिराज, एकबार प्रौष्ठिल श्रुतकेवली भगवन्त की धर्मसभा में बैठे थे; रत्नत्रयवन्त ऐसे वे मुनिराज बारम्बार निर्विकल्प चैतन्यरस का पान करते थे। दूसरे भी अनेक मुनिवर और धर्मात्मा उस धर्मसभा में विराज रहे थे। अहा ! वहाँ जैनधर्म का अपार वैभव था। अनेक श्रुतकेवली भगवन्त, आचार्य-उपाध्याय-साधु, श्रुतज्ञान का अपार भण्डार ऐसी स्वानुभवरसयुक्त जिनवाणी, वह सर्व जिनवैभव एक साथ देखकर, अपने चरित्र नायक को परम धर्म भावना भक्ति एवं वात्सल्य के कोई ऐसे अचिन्त्य परम अद्भुत भाव उल्लसित हुए कि वहाँ श्रुतकेवली के चरणों में बैठे-बैठे ही उन्हें त्रिलोक पूज्यता के हेतुरूप ऐसा तीर्थंकर नामकर्म बँधना प्रारम्भ हो गया। जिनका सम्यक्त्व अष्ट अंगसहित विशुद्ध है – ऐसे उन नन्द मुनिराज को, आश्चर्यकारी अद्भुत धर्म महिमा देखकर, सोलह प्रकार की ऐसी मंगल भावनाएँ जागृत हुईं कि भव के अन्त की सूचक तथा सर्वज्ञपद की पूर्व भूमिकारूप तीर्थंकर प्रकृति के पिण्डरूप जगत के उत्तम पुद्गल स्वयमेव परिणमित होने लगे।

अहा ! सर्वज्ञ के साथ रहना किसे अच्छा नहीं लगेगा ? 'आप सर्वज्ञ होंगे, तबतक हम आपके साथ रहेंगे और ठेठ मोक्षगमन तक आपकी सेवा करेंगे।' – मानों ऐसे भाव से वे शुभपुद्गल प्रभु के आत्मा के साथ एकक्षेत्र में आकर निवास करने लगे। 'श्रुतकेवली के चरणसान्निध्य में' वे मुनिराज अत्यन्त विशुद्ध परिणामों से क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त हुए।

प्रश्न – क्षायिक सम्यग्दर्शन तो आत्मा की विशुद्धि है, उसके लिये बाह्य आलम्बनरूप केवली-श्रुतकेवली के पाद-मूल की समीपता की अनिवार्यता क्यों?

उत्तर – तीर्थंकरादि का महात्म्य जिसने नहीं देखा ऐसे जीव को दर्शनमोह के क्षय के कारणरूप परिणाम उत्पन्न नहीं होते। '**अदिट्ठ तित्थयरादिमा हप्पस्स दंसणमोहखवण णिबन्धणकरण परिणामाणमणुप्पत्तीदो**' (यही बात

तीर्थंकर प्रकृति के बन्धन में भी समझ लेना अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व की भाँति तीर्थंकर प्रकृति का प्रारम्भ भी केवली या श्रुतकेवली के सान्निध्य में ही होता है। –कषायप्राभृत, गाथा-११० (यहाँ, तीर्थंकरत्व के कारणरूप दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का अति सुन्दर भावपूर्ण वर्णन षट्खण्डागम, धवला आदि के आधार से किया गया है; परन्तु 'महापुराण' का विस्तार बढ़ जाने से वह प्रकरण यहाँ नहीं दिया जा सका; अन्य किसी पुस्तक में उसे प्रकाशित करेंगे। इसी प्रकार दूसरे भी अनेक प्रकरण संक्षिप्त करने पड़े हैं। जो जिज्ञासु उन्हें पढ़ना चाहते हों वे प्रकाशक से सम्पर्क करें।')

– इसप्रकार उन नन्द मुनि ने दर्शनविशुद्धि से लेकर प्रवचन वत्सलत्व तक की सोलह मंगल-भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति बाँधना प्रारम्भ किया। यद्यपि एक ओर अघाति ऐसी तीर्थंकर प्रकृति बँध रही थी, तो दूसरी ओर उसीसमय वे मोहादि घाति-कर्मों को वे नष्ट-भ्रष्ट कर रहे थे....और जिसके बिना तीर्थंकरत्व की सम्भावना नहीं होती – ऐसी सर्वज्ञता को वे अति शीघ्रता से निकट ला रहे थे। वे रत्नत्रयवन्त धर्मात्मा कहीं तीन रत्नों को ही धारण नहीं करते थे; उनका आत्मा तो अपार चैतन्यगुण रत्नों की राशि से शोभायमान था। उनमें सम्यक्त्वादि शुद्धभाव मोक्ष के ही साधक थे, बंध के किंचित् भी नहीं। जब भरतक्षेत्र के २४वें तीर्थंकर ने तीर्थंकर प्रकृति बाँधना प्रारम्भ किया तब १२वे वासुपूज्य तीर्थंकर का शासन प्रवर्त रहा था। एक ओर थोड़ी बंधधारा और दूसरी ओर रत्नत्रय की शुद्धिरूप वेगवती मोक्षधारा – ऐसी द्विरूपधारा में वर्तती हुई उनकी परिणति तीव्रगति से मोक्ष की ओर प्रयाण कर रही थी। एक रागधारा और दूसरी रत्नत्रयधारा – ऐसी दोनों धाराएँ एक साथ साधक की भूमिका में अपना-अपना कार्य करती हैं; उन दोनों धाराओं की भिन्नता को भेदज्ञानी जीव जानते हैं।

वे रागधारा को मोक्ष का कारण नहीं मानते और रत्नत्रयधारा को किंचित् भी बन्ध का कारण नहीं मानते। यदि रत्नत्रय स्वयं बंध का कारण हो तो जगत में मोक्ष के उपाय का अभाव हो जाय; और यदि राग मोक्ष का कारण हो तो सर्व जीव मोक्ष प्राप्त कर लें। इसलिये **जिनसिद्धान्त है कि 'जितने अंश में राग उतने अंश में बन्धन; और जितने अंश में रत्नत्रय उतने अंश में मोक्ष का उपाय !** (देखें

– पुरुषार्थ सिद्धियुपाय श्लोक – २१२ से २१४) भगवान के मुनि-जीवन की, (और ऐसे ही प्रत्येक साधक धर्मात्मा की) यह विशेषता है कि उनकी चैतन्यधारा बंध को तोड़ती हुई आनन्दपूर्वक मोक्ष को साधने का कार्य निरन्तर कर रही है, उनकी ज्ञानचेतना का प्रवाह अखण्डरूप से केवलज्ञान की ओर दौड़ रहा है। अहा! धर्मात्मा की यह दशा अद्भुत आश्चर्यजनक है! ऐसी अद्भुत वीतरागीदशा में वे नन्दमुनि शोभायमान थे। 'यह मुनिराज अब तीर्थंकर होकर मोक्ष में जाने की तैयारी कर रहे हैं, इनके साथ हम भी मोक्ष में जायेंगे' – ऐसी भावना से प्रेरित होकर जगत के समस्त सद्गुण दौड़-दौड़कर प्रभु के आश्रय में आ रहे थे और क्रोधादि समस्त दोष अब अपना नाश निकट जानकर शीघ्रता से दूर भागने लगे थे।

इसप्रकार दोष रहित गुण सहित निर्दोष मोक्षमार्ग को वे मुनिराज सुशोभित कर रहे थे और जगत को भी उस सुन्दर मार्ग की प्रेरणा दे रहे थे....इसप्रकार रत्नत्रय की उत्तम आराधनापूर्वक समाधिमरण करके वे महात्मा १६वे प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्ररूप से उत्पन्न हुए। यद्यपि वहाँ वे पुण्यजनित दिव्य इन्द्रियसुखों के सागर में रहते थे; तथापि उन मुमुक्षु महात्मा को मोक्षसुख के बिना कहीं चैन नहीं पड़ता था; इसलिये अन्त में उन स्वर्गसुखों को भी छोड़कर मोक्षसुख की साधना के लिये वे मनुष्यलोक में आने को तैयार हुए।

है शार्दूल समान वीरता, साधकत्व है अनुपम।
भव का अन्त किया जिनने, उन महावीर को वन्दन॥

(यहाँ भगवान महावीर के पूर्वभवों का वर्णन पूर्ण हुआ।)

यदि जरा भी भय है तुझे इस जरा एवं मरण से।
तो धर्मरस का पान कर हो जाय अजरा-अमर तू॥

आयु गले मन ना गले ना गले आशा जीव की।
मोहस्फुरे हित नास्फुरे यह दुर्गति इस जीव की॥

परतंत्रता मन-इन्द्रियों की जाय फिर क्या पूछना।
रुक जाँय राग-द्वेष तो हो उदित आतम भावना॥

– योगसार पद्यानुवाद, *46,49,54*

भगवान महावीर : पंचकल्याणक

यत्स्वर्गावतरोत्सवे यदभवत् जन्माभिषेकोत्सवे,
यद्दीक्षाग्रहणोत्सवे यदखिल ज्ञानप्रकाशोत्सवे।
यत् निर्वाणगमोत्सवे जिनपतेः पूजाद्भुत तद्रवे;
संगीतः स्तुति मंगले प्रसरतां में सुप्रभातोत्सवः॥

सर्वज्ञ भगवान महावीरस्वामी के पंचकल्याणक जगत का कल्याण करें!

हे जिनेन्द्र ! आपश्री के मंगल पंचकल्याणक प्रसंग पर आपके शुद्धात्मा की दिव्य महिमा को हृदयंगम करके इन्द्रादि आराधक भक्तजनों ने अद्भुत पूजन-स्तुतिपूर्वक जो मंगल उत्सव किया, उसके मधुर संस्मरण आज भी आनन्द उत्पन्न कर रहे हैं, मानों आप ही मेरे हृदय में विराज कर बोल रहे हों; ऐसे आपके मंगल चिन्तनपूर्वक आपके पंचकल्याणक का भक्ति सहित आलेखन करता हूँ। जिन भावों से स्वर्ग के हरि ने आपकी भक्ति की थी, उन्हीं भावों से मैं इस मनुष्य लोक का हरि भी आपकी भक्ति करता हूँ। अहो ! त्रिकाल मंगलरूप उन तीर्थंकरों को नमस्कार हो कि जिनके पंचकल्याणक अनेक जीवों को कल्याण के कारण हुए हैं।

भगवान महावीर के आत्मा का भव-भ्रमण पूरा हुआ; अब अन्तिम तीर्थंकर अवतार में उनके पंचकल्याणक होते हैं। उन महात्मा का अनादिकाल के भव समुद्र का किनारा आ चुका है और अनेक भव से चल रही वृद्धिंगत आत्मसाधना के प्रताप से महामंगल मोक्षपद बिल्कुल निकट आ गया है; जिन्होंने चैतन्यसुख का आस्वादन किया है – ऐसे उन महात्मा को देवलोक के दिव्यवैभव लुभा नहीं सके। मोक्ष के साधक को स्वर्ग का भव कैसे ललचा सकेगा ? वीतरागता के साधक को राग के फल कहाँ से अच्छे लगेंगे ? उन मंगल आत्मा को १६वें स्वर्ग से इस भरतक्षेत्र में अवतरित होने में जब छह मास शेष थे, तब वैशाली-कुण्डग्राम में रत्नवृष्टि होने लगी।

अनन्त तीर्थंकरों के मंगलविहार से पावन अपना यह भारत देश; ढाई हजार वर्ष पूर्व वैशाली गणतन्त्र का कुण्डपुर (कुण्डग्राम) अति शोभायमान था। उससमय भगवान पार्श्वनाथ तीर्थंकर का शासन चल रहा था और उनके परम उपासक सिद्धार्थ महाराजा वैशाली गणराज्य के अधिपति थे। उनकी महारानी प्रियकारिणी-

त्रिशलादेवी सचमुच भरतक्षेत्र की अद्वितीय नारी-रत्न थीं। गौरववन्ती वैशाली-कुण्डपुर की शोभा अयोध्या नगरी जैसी थी; उसमें तीर्थंकर के अवतार की पूर्व सूचना से सम्पूर्ण नगरी की शोभा में और भी वृद्धि हो गई थी....जिसप्रकार मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की तैयारी होने पर आत्मा का रूप बदल जाता है और आनन्द की ऊर्मियाँ उठने लगती हैं, तदनुसार जिनराज के अवतार की तैयारियों से समस्त वैशाली की शोभा में आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगा, प्रजाजनों में सुख-समृद्धि एवं आनन्द की वृद्धि होने लगी। महाराजा सिद्धार्थ के प्रांगण में प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी। नगरजन नगरी की दिव्य शोभा तथा रत्नवृष्टि देखकर विस्मित होने लगे कि अरे ! इस नगरी में कौन ऐसा पुण्यवान पुरुष है कि जिसके गृह-आँगन में प्रतिदिन ऐसे रत्नों की वर्षा होती है ? जब किन्हीं अनुभवी पुरुषों ने बतलाया कि अपनी नगरी में अन्तिम तीर्थंकर अवतरित होने वाले हैं, उसी की तैयारी के ये चिह्न हैं। मात्र अपनी नगरी का ही नहीं; अपितु सारे भरतक्षेत्र का भाग्योदय हो रहा है।

महारानी त्रिशलादेवी में भी अन्तरंग एवं बाह्य में कोई अद्भुत परिवर्तन होने लगे। महान आनन्द की अव्यक्त अनुभूतियाँ उनके अन्तर में होने लगीं। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की रात्रि के पिछले प्रहर में अति उत्तम मंगल सूचक सोलह स्वप्न देखकर वे हर्षातिरेक से रोमांचित हो गईं और उसीसमय प्रभु महावीर का मंगल आत्मा १६वें स्वर्ग से चयकर प्रियकारिणी-त्रिशला माता के उदर में अवतरित हुआ।

मंगल दिन अति सुखदाता, आये उर त्रिशला माता।
नर-हरि-देव नमें जिनमाता, हम सिर नावत पावत साता॥

आज त्रिशलादेवी के हर्षोल्लास का पार नहीं था और जब राज सभा में सिद्धार्थ महाराजा के श्रीमुख से उन स्वप्नों का महान फल सुना कि चौबीसवें तीर्थंकर का उनके गर्भ में अवतरण हुआ है, तब तो उन्हें किसी अचिन्त्य निधान की प्राप्ति जैसा अपार हर्ष हुआ। सारी नगरी में भी चारों ओर आनन्द छा गया। लोगों के मुँह से 'धन्य है....धन्य है' के उद्गार निकल रहे थे और कह रहे थे कि 'अपनी नगरी में हम बाल-तीर्थंकर को खेलते-बोलते हुए देखेंगे....हम सबका जीवन भी धन्य होगा !'

इन्द्र-इन्द्राणी ने भी वैशाली आकर माता-पिता का सन्मान किया; दिग्कुमारी देवियाँ त्रिशला माता की सेवा करने लगीं। देव तो ठीक, नरक के जीवों ने भी दो घड़ी साता का वेदन किया और उससे तीर्थंकर महिमा जानकर गहरे विचार में मग्न होने से अनेक जीव चैतन्यविभूति को लक्ष्यगत करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। धन्य हैं तीर्थंकर के कल्याणक का प्रभाव और धन्य हैं उनको देखनेवाले !

अहा ! माता के उदर में विद्यमान वह जीव, अपर्याप्त दशा में जहाँ अभी हाथ-पाँव तथा आँख-कान की भी रचना नहीं हुई थी; तथापि मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान का धारी था, सम्यग्दृष्टि था, आत्मानुभूति के वैभवसहित था, अतीन्द्रिय आनन्द का परिणमन हो रहा था; इसलिये वह आत्मा कल्याणकरूप था; उनकी वह गर्भावस्था भी कल्याणकारी थी। उससमय की भी उनकी देहातीत आत्मदशा जो यथार्थ स्वरूप जान ले उसका कल्याण हो जाये; उसे शरीर एवं आत्मा का भेदज्ञान होकर अतीन्द्रिय ज्ञान. अतीन्द्रिय सुख हो जाये – इसका नाम है गर्भकल्याणक !

अरे ! लक्ष में तो लो –

वहाँ आँख-कान नहीं हैं; तथापि अतीन्द्रिय ज्ञान वर्तता है;
वहाँ शरीर रचना नहीं हुई है; तथापि अतीन्द्रिय सुख वर्तता है;
वहाँ अभी द्रव्यमन की रचना नहीं हुई है; तथापि सम्यग्दर्शन वर्तता है।

इसप्रकार आत्मा के ज्ञान, सुख, सम्यक्त्वादि भाव देहातीत हैं; इसलिये आत्मा स्वयं ही ज्ञान एवं सुखरूप परिणमने के स्वभाववाला है – ऐसा विश्वास होता है।

हे भाई ! तू इसप्रकार भगवान को पहिचान। ऐसा भगवान का जीवन है; इसलिये प्रत्येक प्रसंग में (गर्भ से लेकर मोक्ष तक) भगवान का आत्मा कैसे चैतन्यभावोंरूप वर्त रहा है, उसे तू जान ! मात्र संयोग या पुण्य का वैभव देखकर अटक मत। आत्मिक गुणों द्वारा प्रभु की सच्ची पहिचान करेगा तो तुझे भी अवश्य सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि होंगे और तू भी मोक्ष के मार्ग में आ जाएगा। इसलिये बारम्बार कहते हैं कि– **जो जानता जिनराज को चैतन्यमय शुद्धभाव से।**
वह जानता निज आत्म को सम्यक्त्व लेता चाव से ।।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन होने से पूर्व उसकी तैयारी में भी जीव को कोई नवीन आत्मिक आह्लाद जागृत होता है और नई भनक आती है, उसीप्रकार वैशाली में प्रभुजन्म से पूर्व चारों ओर नूतन आनन्द का वातावरण छा गया था। देवकुमारियाँ त्रिशला माता की सेवा करती हैं, नित्य नवीन आनन्दकारी चर्चा करती हैं। एकबार माताजी को विचार आया कि आज मैं देवियों से प्रश्न पूछकर उनके तत्त्वज्ञान की परीक्षा करूँ। देवियाँ भी कोई साधारण नहीं थीं, परन्तु जिनभक्त थीं; वे माता की बात सुनकर प्रसन्न हुईं....और मानों माताजी के मुख से फूल झर रहे हों। तदनुसार एक के पश्चात् एक प्रश्न पूछने लगीं....और देवियाँ भी झट-झट उत्तर देने लगीं। तत्त्वरस से भरपूर उस चर्चा के आनन्द का रसास्वादन आप भी कीजिए –

सर्वप्रथम माताजी ने पूछा – '**जगत में सबसे सुन्दर वस्तु कौन** ? देवी ने कहा – '**शुद्धात्मतत्त्व**'।

माता ने पूछा – **आत्मा का लक्षण क्या** ? देवी ने कहा – **चैतन्यभाव**।

धर्मी का चिह्न क्या ? शान्तभावरूप ज्ञानचेतना !

उत्तम सदाचार क्या ? वीतरागभाव।

पापी कौन ? जो देव-गुरु-धर्म की निन्दा करे वह।

पुण्य-पाप रहित जीव कहाँ जाता है ? मोक्ष में।

वीर कौन ? जो वीतरागता धारण करे वह।

जिन कौन ? जो मोह को जीते वह।

संतोषी कौन ? जो स्व में तृप्त रहे वह।

विवेकी कौन ? जो जिन-आज्ञा का पालन करे वह।

शूरवीर कौन ? जो शत्रु को भी क्षमा करे वह।

मूर्ख कौन ? जो मनुष्य भव पाकर भी आत्महित न करे वह।

सर्वश्रेष्ठ कौन ? जो सबको जाने वह।

मुमुक्षु कौन ? जो मोक्ष का ही उद्यम करता हो वह।

–ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्नोत्तर हुए और धर्मचर्चा चली। कई बार तो ऐसा होता था कि माताजी प्रश्न पूछें तब देवी को उत्तर न आता हो; किन्तु ज्यों ही माताजी के उदर में विराजमान तीर्थंकर का स्मरण करें कि तुरन्त उत्तर आ जाता था। मानों प्रभु स्वयं ही उदर-भवन में बैठे-बैठे सब प्रश्नों के उत्तर दे रहे हों। उदरस्थ आत्मा अवधिज्ञानी है और उनकी सेवा करने वाली देवियाँ भी अवधिज्ञानी हैं। उनमें से कुछ तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त हैं और कुछ प्राप्त करने में तत्पर हैं – ऐसी वे देवियाँ माता से पूछती हैं –

हे माता ! अनुभूति स्वरूप परिणमित आत्मा आपके अन्तर में विराजमान है, तो ऐसी अनुभूति कैसे होती है ? वह समझाइये न !

माता ने कहा – हे देवी ! अनुभूति की महिमा अति गम्भीर है। आत्मा स्वयं ज्ञान की अनुभूति स्वरूप है। उस ज्ञान की अनुभूति में राग की अनुभूति नहीं है। जब ऐसा भेदज्ञान होता है, तब अपूर्व अनुभूति प्रगट होती है। **दूसरी देवी ने पूछा** – हे माता ! आत्मा की अनुभूति होने से क्या होता है?

सुनो देवी ! अनुभूति होने पर सम्पूर्ण आत्मा स्वयं अपने में स्थिर हो जाता है; उसमें अनन्त गुणों के चैतन्यरस का ऐसा गम्भीर वेदन होता है कि जिसके महान आनन्द को अनुभवी आत्मा ही जानते हैं; वह वेदन वाणीगम्य नहीं होता।

हे माता ! वाणी में आये बिना उस वेदन की खबर कैसे पड़ती है ?

हे देवी ! अन्तर में अपने स्वसंवेदन से आत्मा को उसका पता चलता है। जैसे यह शरीर दिखाई देता है, वैसे ही अनुभूति में शरीर से भिन्न आत्मा 'शरीर से भी विशेष स्पष्ट' दृष्टिगोचर होता है।

हे माता ! आँखों से शरीर दिखाई देता है उसकी अपेक्षा आत्मा के ज्ञान को विशेष स्पष्ट क्यों कहा?

हे देवी ! आँख द्वारा जो शरीर का ज्ञान होता है वह तो इन्द्रियज्ञान है, परोक्ष है; और आत्मा को जाननेवाला स्वसंवेदनज्ञान तो अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष है; इसलिये वह अधिक स्पष्ट है।

अनुभूति के काल में तो मति-श्रुतज्ञान हैं; तथापि उन्हें प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय क्यों कहा ?

क्योंकि अनुभूति के समय उपयोग आत्मा में ऐसा लीन हुआ है कि उसमें इन्द्रियों का तथा मन का अवलम्बन छूट गया है, इसलिये उससमय प्रत्यक्षपना है। अहा ! उस काल के अद्भुत निर्विकल्प आनन्द का क्या कहना !

देवियों ने प्रसन्नता से कहा – हे माता ! आपने अनुभूति की अद्भुत बात समझाई, मानों आपके अन्तर से कोई अलौकिक चैतन्यरस झर रहा हो। यह आपके अन्तर में विराजमान तीर्थंकर के आत्मा की अचिन्त्य महिमा है ! उन बाल-तीर्थंकर को गोद में लेकर हम कृतार्थ होंगे।

इसप्रकार धर्मचर्चा द्वारा आनन्दमय उत्तम भावना भाते-भाते सवा नौ मास आनन्दपूर्वक बीत गये और तीर्थंकर के अवतार की धन्य घड़ी आ पहुँची।

वैशाली में महावीर-जन्म की मंगल बधाई !

आज तो बधाई राजा सिद्धारथ दरबार जी.... ।
त्रिशलादेवी कुँवर जायो जग का तारणहार जी....॥
वैशाली में नौबत बाजे देव करें जयकार जी....।
भव्यों के इस भाग्योदय से हर्षित सब नरनार जी...॥

आतमा को धन्य करने, समकित को उज्ज्वल करने।
बाल-तीर्थंकर दर्शन करने, चलो जायें वैशाली में॥

(इस पुस्तक के लेखक ने वीर सं. २५०२ की चैत्र शुक्ला १३ को मंगल-दिवस वीर जन्मधाम वैशाली में आनन्द पूर्वक मनाया था; इस पुराण का कुछ भाग वहीं रहकर लिखा है और वीरप्रभु की रथयात्रा के समय इसकी पाण्डुलिपि को रथ में विराजमान करके उसकी पूजा की है।)

चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के मंगल-दिन वैशाली-कुण्डग्राम में भगवान महावीर का अवतार हुआ। उस काल (ईस्वी सन् पूर्व ५९८ वर्ष, तारीख २८ मार्च सोमवार को) समस्त ग्रह सर्वोच्च स्थान में थे। ज्योतिष विज्ञान के अनुसार ऐसा उत्तमयोग १० कोड़ाकोड़ी सागरोपम में २४ बार ही आता है और वीरप्रभु की यह जन्म-कुण्डली उनका बालब्रह्मचारीपना सूचित करती है।

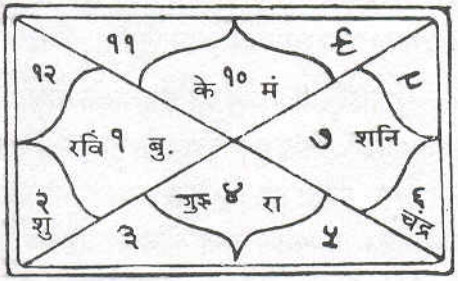

तीर्थंकर का अवतार होते ही तीनों लोक आश्चर्यकारी आनन्द से खलबला उठे। इन्द्र ऐरावत हाथी लेकर जन्मोत्सव मनाने आ पहुँचा। एक देवपर्याय में असंख्य तीर्थंकरों का जन्माभिषेक करनेवाले इन्द्र पुन: पुन: जन्माभिषेक के अवसर पर किसी नूतन आह्लाद का अनुभव करते हैं। भक्ति भावना से प्रेरित होकर वह सौधर्म इन्द्र स्वयं एक होने पर भी अनेक रूप धारण करके जन्मोत्सव मनाने हेतु तत्पर हुए; जिसप्रकार मोक्ष का साधक आत्मा स्वयं 'एक' होने पर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अनेकरूपों को धारण करता हुआ मोक्ष साधने को तत्पर होता है।

शचि इन्द्राणी के भी हर्ष का पार नहीं है। जिन्हें बाल-तीर्थंकर को गोद में लेने की प्रबल उत्कण्ठा है – ऐसी वे इन्द्राणी कुण्डपुरी में प्रवेश करके तुरन्त 'जिन-मन्दिर' में गई। (सिद्धार्थ राजा के 'नंद्यावर्त' नामक राजप्रसाद में 'द्रव्यजिन' का अवतार हुआ और वे 'द्रव्यजिन' वहाँ विराजमान होने से पुराणकारों ने उस राजमहल को भी 'जिन-मन्दिर' कहा है।) वहाँ प्रवेश करके बाल-तीर्थंकर का मुख

देखते ही आनन्द से उसका अन्तर नाच उठा – 'अहा ! देवी पर्याय में सन्तान नहीं होती; परन्तु मुझे तो इन तीर्थंकर समान पुत्र को गोद में लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।' इसप्रकार परम हर्षपूर्वक उन बाल-तीर्थंकर के स्पर्श से वे इन्द्राणी चैतन्य की अद्भुतता का अनुभव करने लगी....अहा ! प्रभु के स्पर्श से मैं धन्य हो गई।

अब मैं स्त्री पर्याय का छेद करके मोक्ष प्राप्त करूँगी....ऐसे आत्मिक आह्लाद सहित उन बाल प्रभु को इन्द्र के हाथ में दिया। इन्द्र भी प्रभु का रूप देखकर ऐसे आश्चर्य चकित हुए कि एक साथ हजार नेत्र बनाकर उस रूप को निहारने लगे। जिसप्रकार मोक्षाभिलाषी जीव अतीन्द्रिय ज्ञान की सर्व किरणों द्वारा आत्मा के अलौकिक रूप का निरीक्षण करता है और महा आनन्दित होता है, उसीप्रकार हरि हजार नेत्रों द्वारा प्रभु के रूप को देखकर अति प्रसन्न हुए। उससमय होनेवाली दिव्य पुष्पवृष्टि से ऐसा लग रहा था, मानों आकाश में सुन्दर उद्यान खिला हो !

...परन्तु अरे ! उस दिव्य पुष्पोद्यान की अपेक्षा प्रभु के आत्मा में जिन चैतन्य के अद्भुत गुणों का उद्यान खिल रहा था, उसे तो धर्मात्मा ही देख सकते थे और 'अगन्धभाव' से उस चैतन्यउद्यान की अपूर्व सुगन्ध लेते थे।

इसप्रकार अद्भुत जिनमहिमा देखकर तथा चैतन्य की अचिन्त्यता को लक्ष्यगत करके अनेक जीव सम्यक्त्व को प्राप्त हुए; सम्यक्त्व के अनुपम प्रकाश से उनका आत्मा जगमगा उठा। प्रभु का जन्म उनके लिये सचमुच कल्याणकारी हुआ। अहो ! तीर्थंकरों का अचिन्त्य प्रभाव !

बाल-तीर्थंकर का रूप निहारने के लिये हजार नेत्र खोलकर इन्द्र ऐसा बतलाना चाहता था कि अरे जीवो ! मेरे यह हजार नेत्र जिनका रूप देखने के लिये कम लग रहे हैं, उन साधक के अन्तर का तो क्या कहना ? ऐसे आत्मसाधक आत्मा की पहिचान बाह्य नेत्रों द्वारा नहीं; किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही होती है। इसलिये जन्मकल्याणक में तुम प्रभु को मात्र इन्द्रिय ज्ञान द्वारा न देखकर उन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा पहिचानना। उससे प्रभु के कल्याणक के साथ तुम्हारा भी कल्याण होगा, तुम्हें सम्यग्दर्शनादि कल्याणकारी भाव प्रगट होंगे।

अति शोभायमान शाश्वत मेरुपर्वत जिनप्रभु के जन्माभिषेक से अत्यधिक सुशोभित हो उठा अथवा ऐसे कहो कि जिनराज ने आकर मेरु की शोभा का हरण

कर लिया; क्योंकि लोग तो मेरु की दिव्य शोभा को देखना छोड़कर प्रभु के मुखारविन्द को निहार रहे थे। प्रभु में लगे हुए उनके चित्त को दूसरा कोई आकर्षित

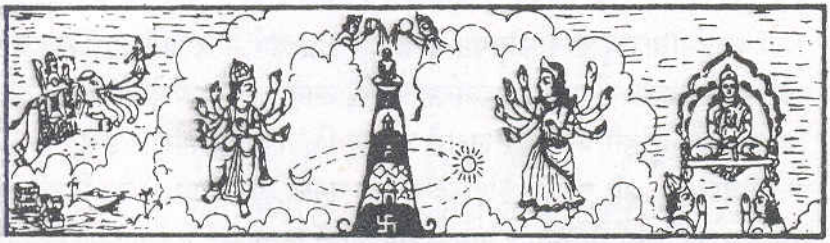

नहीं कर सकता था। मेरु पर 'स्थापनारूप जिन' तो सदा-शाश्वत विराजते हैं, तदुपरान्त आज तो 'द्रव्यजिन' तथा अशंत: 'भावजिन' वहाँ पधारे थे; फिर उसके गौरव की क्या बात ?

अहा ! वह तो जगत का एक पूज्यनीय तीर्थ बन गया था। वहाँ ध्यान धारण कर अनेक मुनिवर निर्वाण प्राप्त करते हैं, इसलिये वह सिद्धिधाम (निर्वाण तीर्थ) भी है। अहा ! तीर्थ स्वरूप आत्मा का जहाँ-जहाँ स्पर्श होता है वह सब तीर्थ बन जाता है। सम्यग्ज्ञान की यह महत्ता है कि वह द्रव्य-क्षेत्र-काल से 'भाव' मंगल को जानकर उसके साथ आत्मा की सन्धि कर लेता है। उस जन्माभिषेक के समय सर्वत्र आनन्द छा गया.... **''धन्य घड़ी धन्यकाल शुभ देखो, हरि अभिषेक करे प्रभुजी को''**

देवगण भक्ति से नाच उठे और मुनिवर चैतन्य की अगाध महिमा का चिन्तन करते-करते ध्यानमग्न हुए। निर्विकल्प जिनभक्ति तथा सविकल्प जिनभक्ति – दोनों का वहाँ संगम हुआ। वाह प्रभो ! अभी तो आप बाल-तीर्थंकर हैं, द्रव्य-तीर्थंकर हैं; तथापि ऐसी अगाध महिमा ! तब फिर जब आप भविष्य में इसी भव में सर्वज्ञ होकर साक्षात् तीर्थंकर होंगे और इष्ट-उपदेश द्वारा जगत में रत्नत्रय-तीर्थ का प्रवर्तन करेंगे, उस काल की महिमा का क्या कहना ? **घटे 'द्रव्य-जगदीश' अवतार ऐसा, कहो 'भाव-जगदीश' अवतार कैसा ?**

प्रभो ! आपकी महिमा को जो जानेगा वह अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करेगा। हे देव ! आपके जन्मोत्सव में कहीं राग का ही उल्लास नहीं था; राग से पार ऐसे वीतरागरस की एकधारा भी वहाँ चल रही थी। जैनदर्शन की इस अद्भुतता को

ज्ञानी ही जानते हैं। जब सारी दुनिया जन्मोत्सव के हर्षातिरेक में पागल हो रही थी तब हमारे प्रिय बालप्रभु तो अपनी ज्ञानचेतना की शान्ति में निमग्न होकर बैठे थे। वाह रे वाह ! वीतरागमार्ग में हमारे भगवान तो इसीप्रकार शोभा देते हैं।

पार्श्वनाथ प्रभु के मोक्षगमन पश्चात् १७८ वर्ष में महावीर प्रभु का जन्म हुआ। उनके शरीर में १००८ उत्तम लक्षण थे; उनके बाँये पैर में केसरी सिंह (हरि) देखकर हरि ने, हरि का, हरि लक्षण प्रसिद्ध किया। (१. हरि = इन्द्र; २. हरि = भगवान; ३. हरि = सिंह। एक देव, एक मनुष्य, एक तिर्यंच) उन सिंहलक्षण युक्त प्रभु को 'वीर' ऐसे मंगल नाम से सम्बोधित करके इन्द्र ने स्तुति की। "अरे, अनन्त गुणसम्पन्न भगवान 'वीर' ऐसे एक ही शब्द से वाच्य कैसे होंगे ?" हाँ, जैन शासन के अनेकान्त के बल से वह सम्भव हो सका; क्योंकि एक गुण द्वारा अभेदरूप से अनन्त गुण सम्पन्न – ऐसे पूर्ण गुणी को प्रत्यक्ष किया जा सकता है – ऐसा जैन-शासन के अनेकान्त ज्ञान का ही विशिष्ट सामर्थ्य है।

मेरु पर जन्माभिषेक के पश्चात् प्रभु की शोभायात्रा लेकर इन्द्र वैशाली-कुण्डपुर लौटे और माता-पिता को उनका पुत्र सौंपते हुए कहा – हे जगत्पूज्य माताजी ! हे महाराज ! त्रिलोकपूज्य पुत्र को पाकर आप धन्य हुए हैं; वे मोह को जीतने में 'वीर' हैं और धर्मतीर्थ का उद्योत करनेवाले हैं – इसप्रकार स्तुति करके इन्द्र तो माता-पिता का सन्मान कर रहे थे; परन्तु माता त्रिशलादेवी का ध्यान उसमें नहीं था; वे तो बस पुत्र को देखने में तल्लीन थीं। जिसप्रकार स्वानुभूति में प्रथमबार ही चैतन्य का अतीन्द्रियरूप देखकर मुमुक्षु जीव का चित्त अपूर्व आनन्द के वेदन में लग जाता है....उसीप्रकार पुत्र का अद्भुतरूप देखकर त्रिशला माता का चित्त अनुपम आनन्द से तृप्त हो गया। इन्द्र-इन्द्राणी ने ताण्डव नृत्य करके अपना हर्षोल्लास व्यक्त किया। इसप्रकार प्रभु के जन्म कल्याणक का भव्य उत्सव करके देवगण अपने स्वर्गलोक में चले गये; किन्तु कितने ही देव छोटे बच्चे का रूप धारण करके वीर कुँवर के साथ वहीं क्रीड़ा करने हेतु रुक गये। अहा ! तीर्थंकर जैसे बालमित्र के साथ रहना तथा खेलना किसे अच्छा नहीं लगेगा ?..वाह ! उसमें तो बड़ा ही आनन्द आयेगा। उन देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए वीर कुँवर को देखकर उनमें देव कौन है और मनुष्य कौन ? उसका पता भी नहीं चलता था; क्योंकि सबका रूप एक जैसा था; परन्तु जब वे देवकुमार

तीर्थंकर देव का चरण स्पर्श करते तब समझ में आता था कि देव कौन है, वे देव कहते थे कि हे प्रभो ! हम देव नहीं हैं; वास्तव में तो देव आप ही हैं। इसप्रकार गुणों की विशेषता के कारण वीर कुँवर सबसे अलग पहिचाने जाते थे।

वीर कुँवर का जन्म होने से वैशाली सर्वप्रकार से वृद्धिंगत होने लगी; उसका

वैभव भी बढ़ने लगा और आत्म गुण भी। इसलिये माता-पिता एवं प्रजाजनों ने उन वीर कुँवर को वर्द्धमान नाम से सम्बोधन किया।

''पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं'' (प्रवचनसार)

अहा ! 'वर्द्धमान' ऐसे सुन्दर नाम से जो वाच्य हैं, जिन प्रभु के गुणों की पहिचान से आत्मा के गुण वृद्धिंगत होते हैं – ऐसे धर्मवृद्धिकर श्री वर्द्धमान जिन को मैं वन्दन करता हूँ। चैतन्यगुणों में वृद्धिंगत उन महात्मा को देवलोक से आनेवाले दिव्यवैभव भी आश्चर्यचकित नहीं करते थे। अहा ! क्या चैतन्यगुणों से अधिक सुन्दर कोई ऐसी वस्तु इस जगत में है, जो धर्मी के चित्त को आश्चर्य में डाल सके।

वीर-वर्द्धमानकुमार दो वर्ष के बालक होने पर भी तीन ज्ञान से गम्भीर हैं और आराधना सहित श्रेष्ठ जीवन जीते हैं। उन्हें देख-देखकर भव्यजीवों का हृदय शान्त होता है।

उनकी बालक्रीड़ाएँ निर्दोष हैं। अवधिज्ञानी-आत्मज्ञानी वे महात्मा ऐसा विशिष्ट क्षयोपशम लेकर आये हैं कि किसी शिक्षक के पास कोई विद्या पढ़ना शेष नहीं रहा; जगत को चैतन्यविद्या पढ़ानेवाले वे स्वयंबुद्ध भगवान स्वयं सर्वविद्याओं में पारंगत हैं। अहा ! ऐसे बालप्रभु जिनके गृह में सदा क्रीड़ा करते हों और जिनके हृदय में विराजते हों, उनके महान सौभाग्य का क्या कहना !

देवियाँ उन्हें आनन्द से खिलाती थीं, माता उन्हें झूले में झुलाती थीं, देवकुमार हाथी के बच्चे का रूप धारण करके वीर कुँवर को सूँड पर बैठाकर झुलाते थे....तथापि वीर कुँवर डरते नहीं थे आनन्द से झूलते थे।

उनके शरीर की ऊँचाई १ धनुष (छह फुट) थी; रंग पीला सुवर्ण जैसा था; ७२ वर्ष की आयु थी और तीनों लोक में सबसे सुन्दर अद्भुत रूप था। अति मनोज्ञ उनके शरीर में जन्म से ही दस अतिशय थे – वह शरीर मल-मूत्र रहित, प्रस्वेद रहित था, रक्त का रंग श्वेत दूध समान था, वज्र संहनन था, सर्वांग सुन्दर उसकी आकृति थी, सुगन्धित श्वास था, अद्भुत रूप, अतिशयबल एवं मधुरवाणी थी। उस शरीर में १००८ उत्तम चिन्ह थे।

इसप्रकार बाल-तीर्थंकर के शरीर में जन्म से ही पुण्यजनित दस अतिशय थे। वह अतिशयता कर्मजनित शरीराश्रित थी, उसके द्वारा कहीं भगवान की सच्ची पहिचान नहीं होती; हाँ ! भगवान के आत्मा में जन्म से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप चैतन्य भावों की जो अतिशयता थी, वह धर्मजनित और आत्माश्रित थी, वही उनकी सच्ची अतिशयता थी और उन लक्षणों द्वारा भगवान को सच्चे स्वरूप में पहचाना जा सकता है। शरीर के गुणों की दिव्यता वह कहीं वास्तव में महावीर नहीं है, वह तो महावीर के आत्मा के साथ संयोगरूप मात्र से लगा हुआ सुन्दर पुद्गलों का पिण्ड है, महावीर के सान्निध्य के कारण वह भी उपचार से पूज्यरूप बना है। सच्चे महावीर तो अतीन्द्रिय, रूपातीत, अशरीरी, चैतन्यगुण-सम्पन्न हैं। ऐसे भाव से जो महावीर को जानता है वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके आनन्दित होता है।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वप्रभु का निर्वाण होने के २५० वर्ष पश्चात् भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया अर्थात् पार्श्वप्रभु के निर्वाण के १७८ वर्ष पश्चात् वीरप्रभु का अवतार हुआ। उनकी आयु ७१ वर्ष ६ माह १६ दिन थी। (बालप्रभु वीरकुँवर को रत्नों के पालने में झुलाते हुए माता त्रिशला देवी तथा छप्पन कुमारी देवियाँ कैसे सुन्दर मंगल-गीत गाती थीं ! उनकी वानगी भगवान नेमिनाथ चरित्र में देखिये।)

देवकुमारों तथा राजकुमारों की तत्त्वचर्चा

एकबार चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन वीरकुँवर का जन्मदिन मनाने हेतु देवकुमार और राजकुमार कुण्डग्राम के राजोद्यान में एकत्रित हुए थे। वीरकुँवर के आने में कुछ देर होने से वे तत्त्वचर्चा करने लगे। उनकी चर्चा कितनी सुन्दर थी वह हम देखें –

देवकुमार – भाइयो ! आज वीरकुँवर का जन्मदिन है। वे राजभवन से यहाँ पधारें तब तक हम थोड़ी धर्मचर्चा करें।

राजकुमार बोले – वाह ! यह तो बड़ी अच्छी बात है ! धर्म के महान दिवस पर तो धर्म चर्चा ही शोभा देती है।

देवकुमार – ठीक है; आज हम 'सर्वज्ञ' के स्वरूप की चर्चा करेंगे। बोलो राजकुमार ! हम किस धर्म को मानते हैं ? और हमारे इष्टदेव कौन हैं?

राजकुमार – हम जैनधर्म को मानते हैं....उसमें आत्मा के शुद्धभाव द्वारा मोह को जीतते हैं और भगवान 'सर्वज्ञ' अपने इष्टदेव हैं।

देवकुमार – 'सर्वज्ञ' कौन हैं ?

राजकुमार – 'सर्वज्ञ नाम कोई व्यक्तिवाचक नहीं है, अपितु मोह का नाश करके ज्ञानस्वभावी आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति जिनके विकसित हो गई है, वे सर्वज्ञ हैं; – इसप्रकार 'सर्वज्ञ' शब्द गुण वाचक है।'

देवकुमार – सर्वज्ञ कब हुए ?

राजकुमार – सर्वज्ञ अनादि से होते आ रहे हैं; वर्तमान में होते हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे।

देवकुमार – सर्वज्ञ कितने हैं ? उनके कितने प्रकार हैं ?

राजकुमार – सर्वज्ञता प्राप्त जीव अनन्त हैं; उन सबकी सर्वज्ञता एकसमान है, उसमें कोई अन्तर नहीं है; किन्तु अन्य प्रकार से उनके 'सिद्ध' और 'अरिहन्त' ऐसे दो भेद हैं।

देवकुमार – वे सर्वज्ञ भगवन्त कहाँ रहते हैं ?

राजकुमार – सर्वज्ञ में जो सिद्ध हैं, वे लोकाग्र में सिद्धलोक में विराजते हैं;

वे अनन्त हैं, उनके अतिरिक्त कितने ही सर्वज्ञ 'अरिहन्त' पद पर विराजमान हैं, वे इस मध्यलोक में मनुष्यरूप में विचरते हैं और ऐसे लाखों 'अरिहन्त' हैं।

देवकुमार – ऐसे किन्हीं सर्वज्ञ का नाम बतलाएँगे ?

राजकुमार – हाँ, इस समय महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान आदि सर्वज्ञरूप से विचर रहे हैं; वे 'अरिहन्त-सर्वज्ञ' हैं; और पार्श्वनाथ तक हुए भगवन्त वर्तमान में सिद्धलोक में विराजते हैं वे 'सिद्ध-सर्वज्ञ' हैं। अपने महावीरकुमार भी ४२वें वर्ष में सर्वज्ञ होंगे।

देवकुमार – सर्वज्ञ क्या करते हैं ?

राजकुमार – सर्वज्ञ अर्थात् सबके ज्ञाता; सर्वज्ञ भगवान अपने ज्ञानसामर्थ्य से सब जानते हैं और उस ज्ञान के साथ वे अपने पूर्ण आत्मिक सुख का अनुभव करते हैं। वे विश्व के ज्ञाता हैं, किन्तु कर्ता नहीं हैं।

देवकुमार – ऐसे सर्वज्ञ को ही देव किसलिये मानना ?

राजकुमार – क्योंकि अपने को अतीन्द्रिय पूर्ण सुख और पूर्णज्ञान इष्ट है, प्रिय है; इसलिये जिन्हें ऐसा सुख एवं परिपूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है, उन्हीं को हम अपने इष्टदेव के रूप में मानेंगे।

देवकुमार – सर्वज्ञ को मानने से हमें क्या लाभ ?

राजकुमार – सर्वज्ञ को जानने से हमें आत्मा के पूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति होती है और अपने आत्मा के पूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति होने के कारण पर में से ज्ञान या सुख लेने की पराधीन मान्यता दूर हो जाती है; बाह्यविषयों में सुख की मिथ्या-कल्पना छूटकर आत्मस्वभाव में जो अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सुख है उसकी श्रद्धा प्रगट होती है। तथा सर्वज्ञता के साथ राग-द्वेष का कोई अंश भी नहीं रह सकता; इसलिये सर्वज्ञ को जानने से राग-द्वेष से भिन्न अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप की पहिचान होती है। इसप्रकार सर्वज्ञ को जानने से अपने आत्मा में स्वाश्रयपूर्वक सम्यग्ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख होता है अर्थात् धर्म का प्रारम्भ होता है – यह अपूर्व लाभ है।

देवकुमार – क्या सर्वज्ञ को माने बिना धर्म नहीं हो सकता ?

राजकुमार – नहीं, सर्वज्ञ को माने बिना धर्म कदापि नहीं होता।

देवकुमार – सर्वज्ञ को माने बिना धर्म क्यों नहीं होता ?

राजकुमार – क्योंकि सर्वज्ञता ही आत्मा की पूर्ण प्रगट हुई परमात्मशक्ति है; आत्मा की पूर्ण प्रकट हुई शक्ति को जो नहीं मानेगा वह अपने आत्मा की परमात्मशक्ति को भी कहाँ से जानेगा ? और जब तक अपने आत्मा की पूर्ण शक्ति को नहीं जानेगा, तबतक पर में से ज्ञान या सुख प्राप्त करने की पराश्रित मिथ्याबुद्धि बनी ही रहती है; जहाँ पराश्रित बुद्धि हो अर्थात् बाह्यविषयों में सुखबुद्धि हो वहाँ धर्म हो ही नहीं सकता। इसप्रकार सर्वज्ञ को माने बिना कदापि धर्म नहीं हो सकता।

देवकुमार – सर्वज्ञ को माने बिना आत्मा की पूर्ण शक्ति को मान लें तो ?

राजकुमार – यदि आत्मा की पूर्ण शक्ति को यथार्थरूप से मानें तो उसमें सर्वज्ञ की प्रतीति भी अवश्य आ ही जाती है। यदि सर्वज्ञ की प्रतीति न हो तो आत्मा की पूर्ण शक्ति की प्रतीति भी नहीं होती। अपने को पूर्ण सुख चाहिये न ? तो जहाँ पूर्णज्ञान हो वहीं पूर्ण सुख होता है; इसलिये पूर्णज्ञान कैसा होता है उसका निर्णय करना चाहिये। पूर्णज्ञान के निर्णय में ही सर्वज्ञ की मान्यता आ गई तथा ज्ञान एवं राग का भेदज्ञान भी हो गया; क्योंकि पूर्णज्ञान में राग का सर्वथा अभाव है। भले ही सर्वज्ञ अपने सामने उपस्थित न हों; परन्तु अपने ज्ञान में तो उनका निर्णय हो ही जाना चाहिये। तभी आत्मा की पूर्णशक्ति का विश्वास आयेगा और धर्म होगा।

देवकुमार – सर्वज्ञ कौन हो सकता है ?

राजकुमार – प्रथम जो सर्वज्ञ को तथा सर्वज्ञ समान अपने आत्मा की परमात्मशक्ति को जाने, वह जीव अपनी सर्वज्ञत्व शक्ति में से सर्वज्ञता की व्यक्ति करके सर्वज्ञ होता है। इसलिये **जो सर्वज्ञस्वभाव को जाने, वही आत्मज्ञ होता है और जो आत्मज्ञ हो, वह अवश्य ही सर्वज्ञ होता है।** इसप्रकार सर्वज्ञता जैनधर्म का मूल है।

इसलिये हे मुमुक्षु भव्यजीवो ! यदि तुम धर्मार्थ सर्वज्ञ का निर्णय करना चाहते हो तो सर्वज्ञता के प्रति जिनकी परिणति उल्लसित हो रही है, जिनकी वाणी एवं मुद्रा सर्वज्ञता की निःशंक घोषणा कर रही है तथा राग से भिन्न ज्ञानचेतना के बल

से जो सर्वज्ञ होकर जिनशासन के धर्मचक्र का प्रवर्तन करनेवाले हैं – ऐसे श्री वीर प्रभु को चैतन्यभाव से जानो।

जो जानता महावीर को चेतनमयी शुद्धभाव से।
वह जानता निज आत्म को सम्यक्त्व लेता चाव से॥

प्रभु की ज्ञानचेतना को जानने से रागरहित सर्वज्ञस्वभावी आत्मा तुम्हारे स्वसंवेदन में आ जायेगा और सम्यक्त्व सहित सर्वज्ञता का सर्व समाधान हो जायेगा; तुम्हारा परिणमन राग से भिन्न ज्ञानचेतनारूप हो जायेगा और तुम स्वयं अल्पकाल में अल्पज्ञ मिटकर सर्व काल के लिये सर्वज्ञ हो जाओगे।

इसप्रकार देवकुमारों तथा राजकुमारों के बीच तत्त्वचर्चा चल रही थी, उससमय राजभवन में (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को) क्या हो रहा था – वह हम देखें।

वर्द्धमानकुमार ने प्रातःकाल सिद्धों का स्मरण करके आत्मचिन्तन किया। फिर माताजी के पास आये। त्रिशला माता ने बड़े उत्साहपूर्वक पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके प्रिय पुत्र को तिलक किया और बलैयाँ लेकर मंगल आशीर्वाद दिया। माता का आशीष लेकर वीरकुमार प्रसन्न हुए और उनसे आनन्दपूर्वक चर्चा करने लगे। अहा! माताजी के साथ वीर कुँवर कैसी आनन्दप्रद चर्चा करते हैं, वह सुनने के लिये आइए हम राजभवन में चलें....!

राजभवन में त्रिशला माता और वीरकुमार की मधुर वार्ता

वाह! देखो, यह राजा सिद्धार्थ का राजभवन कितना भव्य एवं विशाल है, इसका शृंगार भी कितने अद्भुत ढ़ंग से किया गया है! आज चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वीरप्रभु का जन्मदिन होने से राजभवन के प्रांगण में हजारों प्रजाजन वीर कुँवर के दर्शनार्थ एकत्रित हुए हैं; आज वे पाँचवें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। राजभवन के भीतर उस कक्ष की शोभा तो स्वर्ग की इन्द्रसभा को भी भुला दे – ऐसी है; परन्तु अपना लक्ष्य वहाँ नहीं जाता, अपनी दृष्टि तो सीधी महावीर कुँवर पर केन्द्रित है। अहा! वे कैसे सुशोभित हो रहे हैं? त्रिशला माता अपने इकलौते पुत्र को कितना लाड़ कर रही हैं और कुँवर भी माताजी से आनन्दपूर्वक चर्चा कर रहे हैं। चलो, वह हम भी सुनें –

वीर कुँवर ने पूछा – हे माता! जिन्हें भव नहीं है और जो मोक्ष को भी प्राप्त नहीं हुए, वे कौन हैं?

माता ने कहा – (हँसकर सिर पर हाथ फेरते हुए) 'वह तो मेरा प्यारा पुत्र है।' फिर (गोद में लेकर चुम्बन करते हुए) कहा – बेटा ! वह तो तू ही है कि जिसे अब भव भी नहीं हैं और जिसने अभी मोक्ष प्राप्त भी नहीं किया है।

वीर कुँवर कहते हैं – हे माता ! शुद्धात्मतत्त्व की महिमा कैसी अगाध है, वह तुम जानती हो ?

माता – हाँ बेटा ! जब से तू मेरे अन्तर में आया तब से शुद्धात्मतत्त्व की महिमा मैंने जान ली है।

वीर कुँवर – 'तुमने आत्मा की कैसी महिमा जानी है ? वह मुझे बतलाओ न।'

माता – बेटा ! जब से यहाँ रत्नवृष्टि प्रारम्भ हुई, मुझे १६ स्वप्न दिखाई दिये और मैंने उन स्वप्नों का उत्तम फल जाना, तब से मुझे ऐसा लगा कि अहा ! जिसके पुण्य का प्रभाव इतना आश्चर्यकारी है उस आत्मा की पवित्रता का क्या कहना? ऐसा आराधक आत्मा मेरे उदर में विराज रहा है – ऐसी अद्भुत महिमा से आत्मा के आराधक भावों में विशुद्धता वृद्धिंगत हुई और किसी अचिन्त्य आनन्दपूर्वक मुझे शुद्धात्मतत्त्व का भास हुआ। बेटा ! यह सब तेरा ही प्रताप है।

वीर कुँवर – हे माता ! तुम्हें तीर्थंकर की माता बनने का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ, तुम जगत की माता कहलाई। चैतन्य की अद्भुत महिमा को जानने वाली हे माता ! तुम भी अवश्य मोक्षगामी हो।

माता – बेटा वर्द्धमान ! तेरी बात सत्य है। स्वर्ग से तेरा आगमन हुआ तभी से अन्तर एवं बाह्यवैभव वृद्धिंगत होने लगा है; मेरे अन्तर में आनन्द का अपूर्व स्फुरण होने लगा है। तेरे आत्मा का स्पर्श होते ही मेरे आराधक भावों में विशेष वृद्धि होने लगी। अब मैं भी एक भव पश्चात् तेरी भाँति मोक्ष की साधना करूँगी।

वीर कुँवर – धन्य हो माता ! मेरी माता को तो ऐसी ही शोभित होना चाहिये, माता ! तुम्हारी बात सुनकर मुझे आनन्द होता है। मैं इसी भव में मोक्ष को साधने हेतु अवतरित हुआ हूँ तो मेरी माता भी ऐसी ही होगी न !

माता – बेटा ! तू तो समस्त जगत को मोक्षमार्ग दर्शानेवाला है; तेरे प्रताप से

तो जगत के भव्यजीव आत्मज्ञान करेंगे और मोक्ष को साधेंगे....तो मैं तेरी माता क्यों बाकी रहूँ ? मैं भी अवश्य मोक्षमार्ग में आऊँगी। बेटा तू भले ही सारे जगत का नाथ है; परन्तु मेरा तो पुत्र ही है ! तुझे आशीर्वाद देने का मुझे अधिकार है।

पुत्र – वाह, माता ! तुम्हारा स्नेह अपार है....माता के रूप में तुम पूज्य हो....तुम्हारा वात्सल्य जगत में अजोड़ है।

माता ! मेरी मोक्षसाधिका धन्य-धन्य है तुझको...
तव स्नेह भरी मीठी आशिष प्यारी लागे है मुझको...
माता ! दर्शन तेरा रे....जगत को आनन्ददायक है...

माता – बेटा ! तेरी अद्भुत महिमा सम्यक् हीरे जैसी है...
तेरा दर्शन करके भविजन मोह के बन्धन तोड़े हैं...
बेटा ! दर्शन तेरा रे...जगत को मंगलकारक है...

पुत्र – माता ! तेरी मीठी वाणी से तो फूल हि फूल बरसते हैं...
तेरे हिरदय हेतु फव्वारे झरझर-झरझर झरते हैं...
माता ! दर्शन तेरा रे...जगत को आनन्ददायक है...

माता – तेरी वाणी सुनकर भविजन मोक्षमार्ग में दौड़ें...
चेतन रस को पीकर वे तो राजपाट सब छोड़ें...
बेटा जन्म तुम्हारा रे...जगत को मंगलकारक है...

पुत्र – माता मुझको जगे भावना कब मैं बनूँ वैरागी...
रागमयी बन्धन सब तोड़ूँ बनूँ परिग्रह त्यागी...
माता ! दर्शन तेरा रे...जगत को आनन्ददायक है...

माता – बेटा ! तू तो पाँच वर्ष का पर गम्भीर बहुत है...
गृहवासी तू तदपि उदासी दशा मोह विरहित है...
बेटा ! जन्म तुम्हारा रे...जगत को मंगलकारक है...

पुत्र – माता ! तू तो अन्तिम माता फिर नहिं होगी माता...
रत्नत्रय से केवल मिलता जन्म मरण भग जाता...
माता ! दर्शन तेरा रे...जगत को आनन्ददायक है...

माता – बेटा ! तू तो जग में उत्तम जग का त्रास मिटाता...
दिव्यध्वनि में दे संदेशा मुक्ति मार्ग प्रगटाता...
बेटा ! धर्म तुम्हारा रे...जगत को मंगलकारक है...

पुत्र – भरतक्षेत्र में भव्यों के हित मुक्ति मार्ग प्रगटा है...
और भव्य स्वयं ही चलकर उस पर आय डटा है...
माता ! दर्शन तेरा रे...जगत को आनन्ददायक है...

माता – वर्द्धमान ! तू सच्चा बेटा धर्म वृद्धि का कर्ता...
महावीर भी सच्चा तू है मोहमल्ल का जेत्ता...
बेटा ! धर्म तुम्हारा रे...जगत को मंगलकारक है...

पुत्र – माता ! मैं निजधर्म बढ़ाऊँ परमातम पद पाऊँ...
जीव सभी जिनधर्म को पायें यही भावना भाऊँ...
माता ! दर्शन तेरा रे...नगर को आनन्ददायक है...

माता – बेटा ! तेरे ही प्रताप से जग में धर्म बढ़ेगा...
जो तेरा अनुचर बन जाये मोक्षपुरी पहुँचेगा...
बेटा ! धर्म तुम्हारा रे...जगत को आनन्ददायक है...

पुत्र – माता ! चेतन की अनुभूति अतिशय मुझको न्यारी...
अनुभूति तें आनन्द उछले उसकी जाति न्यारी है...
माता ! दर्शन तेरा रे...जगत को आनन्ददायक है...

माता – बेटा ! तू तो स्वानुभूति की मस्ती में नित झूमे...
रत्नत्रय के लेता झोंके प्यारे-प्यारे हिय में...
बेटा ! जन्म तुम्हारा रे...जगत को आनन्ददायक है...

अहा ! त्रिशला माता और बाल-तीर्थंकर वर्द्धमान कुँवर की यह चर्चा कितनी आनन्दकारी है !

माता को आनन्दित करके वीरकुमार बोले – माँ ! मेरे मित्र बाहर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, मैं उनके पास जाता हूँ। माँ ने कहा – अवश्य जाओ बेटा! सबको आनन्द देने के लिये तो तुम्हारा अवतार है।

माताजी से आज्ञा लेकर वीरकुमार राजोद्यान में आये; उन्हें देखते ही देवकुमार तथा राजकुमार हर्षपूर्वक जय-जयकार करने लगे और अनेक प्रकार से उनका सन्मान किया। वर्द्धमानकुमार ने भी प्रसन्न दृष्टि से सबकी ओर देखा और माताजी के साथ हुई आनन्दकारी चर्चा कह सुनायी। वह सुनकर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई।

एक राजकुमार बोले – अहा ! तीर्थंकर के मित्र होने से अपने को उनके साथ रहने तथा खेलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, तो हम सब उनके साथ मोक्ष की साधना भी अवश्य करेंगे...वे दीक्षा ग्रहण करेंगे तब उनके साथ हम सब भी दीक्षा लेंगे। यह सुनकर देवकुमारों के मुख पर उदासी छा गई। 'तुम क्यों उदास हो गये मित्र ?' ऐसा पूछने पर...।

देवकुमारों ने कहा – हे मित्रो ! तुम तो मनुष्य पर्याय में हो, इसलिये प्रभु के साथ दीक्षा ले सकोगे; परन्तु हम देवपर्याय में होने के कारण प्रभु के साथ दीक्षा नहीं ले सकते, इस विचार से हमें खेद होता है।

महावीर बोले – बन्धु देव ! सम्यग्दर्शन द्वारा देवपर्याय में भी चैतन्य की आराधना चलती रहती है और ऐसे आराधक जीव मोक्ष के मार्ग में ही चल रहे हैं; जीव को मोक्षमार्ग की प्राप्ति वह अपूर्व महान लाभ है। मोक्षमार्ग में लगा हुआ जीव अल्पकाल में मोक्ष को साध लेगा इसमें संशय नहीं है।

महावीर की ऐसी गम्भीर वाणी सुनकर सब को हर्ष हुआ और फिर बाल-तीर्थंकर के साथ सम्यक्त्व सम्बन्धी बहुत चर्चा की। अहा ! छोटे-से द्रव्य-तीर्थंकर

के श्रीमुख से वीतरागी मोक्षमार्ग की सुन्दर बातें सुनकर उन कुमारों को जो हार्दिक प्रसन्नता हुई, उसका क्या कहना ? ढाई हजार वर्ष पूर्व का यह प्रसंग आज भी हमें उतना ही आनन्द देता है, तो उस प्रसंग को प्रत्यक्ष देखनेवाले जीवों के महान आनन्द का क्या कहना ! कितने ही कुमार उससमय सम्यक्त्व को प्राप्त हुए। साथ ही पाठकों को यह जानकर आनन्ददायक हर्ष होगा कि वीरकुँवर की बात मनुष्यों की भाँति हाथी-घोड़े और बन्दर भी प्रेम से सुनते थे और प्रसन्न होते थे।

बाल महावीर अपने बालमित्रों के साथ ऐसी चर्चा भी करते थे और बालसुलभ क्रीड़ाएँ भी; परन्तु उससमय वे मात्र क्रीड़ाओं में ही नहीं वर्तते थे, उन बाल महात्मा की चेतना उससमय भी अन्तर में अतीन्द्रिय ज्ञानक्रीड़ा करती थी। कई बार वे चैतन्यवन में जाकर निर्विकल्प ध्यान कर लेते थे। उनके अन्तरंग ज्ञान जीवन का आनन्द कोई अनुपम था। एकबार वीरकुमार अपने मित्रों के साथ चर्चा-विनोद करते थे, इतने में अचानक एक आश्चर्यजनक घटना हुई...क्या हुआ ? वह अगले प्रकरण में पढ़िये –

बालवीर की महा-वीरता

जीत लिया मिथ्यात्व-विष, सम्यक्-मंत्र प्रभाव।
नाग लगा फुफकारने, प्रभु को समता भाव॥
जहाँ इन्द्रियातीत भाव है, वहाँ नाग क्या करता ?
रूप बदलकर बना देव वह, नमन वीर को करता॥

फूँ...फूँ करता हुआ एक भयंकर विषैला नाग अचानक ही फुँफकारता हुआ वहाँ आ पहुँचा...जिसे देखकर सब राजकुमार इधर-उधर भागने लगे; क्योंकि उन बालकों ने पहले कभी ऐसा भयंकर सर्प नहीं देखा था; परन्तु महावीर न तो भयभीत हुए और न भागे। अहिंसा के अवतार महावीर को मारनेवाला कौन है ? वे तो निर्भयता से सर्प की चेष्टाएँ देखते रहे। जैसे मदारी साँप का खेल कर रहा हो और हम देख रहे हों; तद्नुसार वर्द्धमान कुमार उसे देख रहे थे।

शान्तचित्त से निर्भयतापूर्वक अपनी ओर देखते हुए वीरकुमार को देखकर नागदेव आश्चर्यचकित हो गया कि वाह ! ये वर्द्धमान कुमार आयु में छोटे होने पर भी महान हैं....वीर हैं, उसने उन्हें डराने के लिये अनेक प्रयत्न किये; बहुत

फुँफकारा....परन्तु वीर तो अड़िग रहे; वे निर्भयता से सर्प के साथ खेलने के लिये उसकी ओर जाने लगे।

दूर खड़े राजकुमार यह देखकर घबराने लगे कि अब क्या होगा ?...सर्प को भगाने के लिये क्या किया जाये, उसके सोच-विचार में पड़ गये....इतने में लोग क्या देखते हैं कि यह भयंकर सर्प अपने आप अदृश्य हो गया।...उसके स्थान पर एक तेजस्वी देव खड़ा है....और हाथ जोड़कर वर्द्धमानकुमार की स्तुति करते हुए कह रहा है कि – हे देव ! आप सचमुच 'महावीर' हैं। आपके अतुल बल की प्रशंसा स्वर्ग के इन्द्र भी करते हैं। मैं स्वर्ग का देव हूँ; मैंने अज्ञानभाव से आपके बल और धैर्य में शंका की; मैं नाग का रूप धारण करके आपकी परीक्षा ले रहा था; मुझे क्षमा कर दें ! तीर्थंकरों की दिव्यता वास्तव में अद्भुत है ! प्रभो! आप वीर नहीं; किन्तु 'महावीर' हैं।

महावीर कुमार तो देव की बात गम्भीरता से सुन रहे हैं; परन्तु हम उस देव को उत्तर देंगे कि अरे देव ! तू तो परीक्षा करने के लिये सर्प का रूप धारण करके आया था; परन्तु कदाचित् सच्चा सर्प भी आया होता तो क्या था ? वह सर्प भी महावीर के सान्निध्य में निर्विष हो जाता। जिनकी शान्त दृष्टि के समक्ष मिथ्यात्व का विष भी टिक नहीं सकता, उन भगवान की दृष्टि पड़ने से सर्प भी निर्विष हो जाएँ – इसमें क्या आश्चर्य है, सम्पूर्ण कषायों को जीतने वाले वीर क्या एक सर्प से डर जायेंगे ? कदापि नहीं। महावीर की वीरता वह किन्हीं बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिये नहीं है; किन्तु वह तो अन्तरंग कषाय-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाली वीतरागी वीरता है। उन वीर की वीतरागता के सान्निध्य में विषैले सर्प भी अहिंसक बन जायेंगे और मिथ्यात्व-विष को छोड़कर सम्यक्त्व-अमृत का पान करेंगे।

अन्तर एवं बाह्य में वृद्धिंगत होते-होते राजकुँवर महावीर जब आठ वर्ष के हुए, तब एक बार अत्यन्त विशुद्धि से अन्तर में चैतन्य धाम में एकाग्रता की धुन लगने से निर्विकल्प ध्यान का महाआनन्द प्रगट हुआ और प्रभु चतुर्थ गुणस्थान से पंचम गुणस्थान में पधारे। आठ वर्ष की आयु में शुद्धि की वृद्धिपूर्वक प्रभु ने पंच अणुव्रत धारण किये। प्रभु श्रावक हो गये। यद्यपि उनका जीवन तो पहले से

ही अहिंसादि रूप था; परन्तु आठवें वर्ष में बालक वर्द्धमान के चौथे से पाँचवें गुणस्थान में आने पर अप्रत्याख्यान सम्बन्धी चारों कषायें नष्ट हो गईं और आत्मिक आनन्द की वृद्धि हुई; कषायों को जीतने की वीरता में वीर प्रभु एक डग आगे बढ़े।

तत्पश्चात् बाल-तीर्थंकर की वीतरागी वीरता की एक अन्य घटना हुई, जिसका आनन्ददायक वर्णन आप आगे पढ़ेंगे।

शान्तदृष्टि से हाथी को वश में करने की घटना

वह दिख रहा है वैशाली राज्य का नंद्यावर्त राजप्रासाद; जिस पर अहिंसा धर्म की ध्वजा फहरा रही है। कैसी अद्भुत है इस राजप्रासाद की शोभा ? क्यों न हो, बाल-तीर्थंकर जिसके अन्तर में वास करते हों, उसकी शोभा का क्या कहना ! उस प्रासाद की शोभा चाहे जैसी हो, तथापि इन्द्रियगम्य एवं नश्वर थी; जबकि उसमें निवास करनेवाले प्रभु के सम्यक्त्वादि गुणों की शोभा अतीन्द्रियगोचर एवं अविनश्वर थी। प्रभु के पुण्य ही उस प्रासाद का रूप धारण करके सेवकरूप में सेवा करने आये थे।

उस सात खण्ड ऊँचे राजप्रासाद के प्रांगण में छोटे-से वीरप्रभु खड़े हो तब प्रेक्षकों को वीर प्रभु बड़े और प्रासाद छोटा लगता था। राजप्रासाद के निकट हस्तिशाला में कितने ही श्रेष्ठ हस्ती शोभा देते थे। राजप्रासाद के मार्ग से आने-जाने वाले हजारों प्रजाजनों को वर्द्धमान कुँवर के दर्शनों की उत्कण्ठा रहने से उनकी दृष्टि राजप्रासाद के प्रत्येक झरोखे पर घूम जाती थी और कभी किसी को झरोखे में खड़े हुए वीरप्रभु के दर्शन हो जाते तो उसका हृदय आनन्द से नाच उठता था....कि वाह ! आज तो बाल-तीर्थंकर के दर्शन हो गये। पाठक ! चलो हम भी राजप्रासाद में चलें और वीर प्रभु के दर्शन करके धन्य बनें।

राजकुमार महावीर शान्तिपूर्वक अपने कक्ष में बैठे हैं और विचार कर रहे हैं कि अहा ! चैतन्य की अल्प (चौथे-पाँचवें गुणस्थान की) शान्ति को भी डिगा सके ऐसी शक्ति जगत में किसी की नहीं है; तो फिर चैतन्यतत्त्व की परिपूर्ण परम शान्ति का क्या कहना ! शान्त रस के उस महासागर की शक्ति तो अपार है। जगत के भव्य जीव एकबार भी अपने शान्तरस को देख ले तो अन्तर में परमतृप्ति का

अनुभव होकर जगत से निर्भय हो जाएँ। कक्ष में बैठे-बैठे वीर कुँवर इसप्रकार आत्मा के शान्तरस का विचार कर रहे हैं; उससमय राजप्रासाद के बाहर – बचाओ ! ... बचाओ !...की आवाजें आ रही हैं ! राजा का हाथी पागल होकर दौड़ रहा है...राजमार्ग पर कोलाहल मचा है और प्रजाजन भयभीत होकर इधर-उधर भाग रहे हैं।

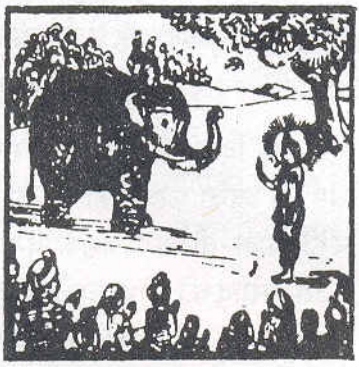

आत्मा की अगाध शान्ति का विचार करते हुए महावीर ने वह कोलाहल सुना और धीर-गम्भीररूप से बाहर राजमार्ग पर आये। उन्होंने हाथ उठाकर लोगों को आश्वासन दिया और शान्त रहने को कहा।

महावीर को देखते ही मानों चमत्कार हुआ....लोग निर्भय होकर आश्चर्यपूर्वक देखने लगे कि अब क्या होगा ? एक ओर बालक महावीर....दूसरी ओर क्रोधाविष्ट मदोन्मत्त हाथी। बालक महावीर धीर-गम्भीर चाल से उस ओर चलने लगे जिधर से हाथी दौड़ता आ रहा था....हाथी के सामने आकर उस पर दृष्टि स्थिर करके खड़े हो गये....क्षण दो क्षण शान्तदृष्टि से हाथी को देखते रहे !

अहा ! कैसी शान्तरस भरी थी वह अमी दृष्टि ! मानों उससे अमृत झर रहा था। मानों उस दृष्टि द्वारा महावीर कह रहे थे कि अरे गजराज ! यह पागलपन छोड़, लोग तेरे पागलपन का कारण नहीं जानते; किन्तु मैं जानता हूँ। अरे ! यह चार गति के दु:ख और उनमें यह तिर्यंच गति की वेदना...उससे तू अकुला गया है और छूटने को उद्विग्न हुआ है....परन्तु धैर्य रख....शान्त हो ! उद्वेग करने से यह दु:ख दूर नहीं होगा।

अहा ! हाथी तो मानों भगवान के नेत्रों से झरते हुए शान्त रस के स्रोत का पान कर रहा हो, इसप्रकार टकटकी बाँधकर प्रभु की ओर देखता ही रह गया....आस-पास के वातावरण को वह भूल गया।

'वाह कैसी शान्ति है इन कुमार के मुखमण्डल पर ! मुझे भी ऐसी शान्ति प्राप्त हो जाए तो कितना अच्छा हो !' – ऐसा विचारते हुए वह हाथी बिलकुल शान्त

हो गया। लोगों ने यह चमत्कार देखा; परन्तु वे समझ नहीं पाये कि महावीर ने किसप्रकार मदोन्मत हाथी को वश कर लिया ? जो लोग विचक्षण थे वे समझ गये कि बालप्रभु ने किसी बल से या शस्त्र से नहीं; किन्तु आन्तरिक शान्ति के बल से ही हाथी को वश कर लिया है और ऐसा करके जगत को बतलाया है कि "जगत के किसी भी अस्त्र-शस्त्र की अपेक्षा आत्मबल-शान्तिबल महान है।"

बन्धुओ ! जिसप्रकार शिशु महावीर ने विशाल हाथी को वश कर लिया, उसीप्रकार अल्प चेतनभाव भी बड़े-बड़े उदयभावों को जीत लेता है। हाथी को जीतने के लिये महावीर को क्रोध नहीं करना पड़ा; किन्तु शान्ति के बल से ही उसे जीत लिया, उसीप्रकार विषय-कषायरूप पागल हाथी को जीतने के लिये क्रोध की अथवा रागादि की आवश्यकता नहीं होती; किन्तु वीतरागी शान्ति द्वारा ही मुमुक्षु वीर उसे जीत लेते हैं। हाथी जैसा प्राणी भी क्रोध द्वारा वश में नहीं होता, वह शान्ति द्वारा सहज ही वश में हो जाता है; इससे सिद्ध होता है कि उसे भी क्रोध अच्छा नहीं लगता, शान्ति ही अच्छी लगती है। जगत् के सर्व जीवों को शान्ति प्रिय है; क्योंकि शान्ति उनका स्वभाव है।

क्या सचमुच वह हाथी पागल हुआ था ? या फिर उसे प्रभु के दर्शनों की तीव्र उत्कण्ठा जागृत हुई थी ? ...और वीर कुँवर के दर्शनों की धुन में वह आकुलित होकर राजप्रासाद की ओर दौड़ रहा था; उसे दौड़ता देखकर ही लोगों ने उसे पागल मान लिया होगा ! देखो, प्रभु को देखते ही वह हाथी बिल्कुल शान्त हो गया ! प्रभु का प्रभाव सचमुच आश्चर्यजनक है।

(कवि श्री नवलशाह रचित महावीर पुराण में इस हाथी की घटना में हाथी को देव की विक्रिया होना लिखा है।)

अब यहाँ एक बात लक्ष्य में रखना है कि शिशु महावीर ने विशाल हाथी को जीत लिया इसी से वे कहीं अपने इष्टदेव नहीं है; अपने इष्टदेव तो 'सर्वज्ञ महावीर' हैं। हाथी को जीतते समय उनमें, मोहरूपी हस्ती को जीतकर जो सम्यक्त्वादि भाव वर्तते थे, वही भाव उनको सर्वज्ञता का साधन हुए हैं, इसलिये मोहविजयी महावीर अपने इष्ट हैं।

एक रीति से देखा जाये तो उपरोक्त घटना में हाथी द्वारा हुआ उत्पात वह

उदयभावों का प्रतीक है और महावीर ने शान्त-प्रतिबोध से उसे जीत लिया, वह उपशान्तभाव का प्रतीक है। बाल्यावस्था में भी उन महावीर आत्मा में जितना उपशान्त भाव (ज्ञानचेतनारूपभाव) था, वही हमें इष्ट है और उस भाव स्वरूप ही हमें महावीर को देखना चाहिये।

(पुराणों में वर्णित प्रत्येक घटना द्वारा उन-उन आराधक महात्माओं की चैतन्य परिणति में ज्ञानादि के कैसे-कैसे भाव वर्तते थे ? उन भावों की पहिचान करने से उन आराधक जीवों की सच्ची पहिचान होती है और स्वयं को वैसे आराधकभाव की उत्तम प्रेरणा मिलती है।)

सन्मतिनाथ (संजय और विजय मुनिवरों का प्रसंग)

तीर्थंकर वर्द्धमान जब बाल्यावस्था में थे, तब पार्श्वनाथ तीर्थंकर का शासन चल रहा था; उस शासन में संजय और विजय नाम के दो मुनि विचर रहे थे; रत्नत्रयवन्त वे मुनिवर आकाशगामी थे। स्वानुभूति की चर्चा करते-करते वे सिद्ध क्षेत्र की यात्रा हेतु सम्मेदशिखर तीर्थ भूमि में पधारे और वहाँ अनन्त सिद्धों का स्मरण करके आत्मध्यान किया।

पश्चात् संजय मुनि बोले – अहा ! स्वानुभूति में आत्मा स्पष्ट ज्ञात होता है; वहाँ मति-श्रुतज्ञान होने पर भी वे अतीन्द्रिय भाव से काम करते हैं, इसलिये स्वसंवेदन में प्रत्यक्षपना है, उसमें कोई सन्देह नहीं रहता। तब विजय मुनि ने कहा – हाँ मुनिराज ! आपकी बात सत्य है; परन्तु मति-श्रुतज्ञान के निर्बल होने से किन्हीं सूक्ष्म ज्ञेयों में सन्देह भी बना रहता है। देखो न, सूक्ष्म अगुरुलघुत्वजनित षट्गुणी वृद्धि-हानि के किसी गम्भीर स्वरूप का हल अभी हमें नहीं मिलता और सूक्ष्म शंका रहा करती है।

पार्श्वनाथ भगवान तो मोक्ष पधार गये; वर्द्धमान तीर्थंकर अभी बाल्यावस्था में हैं; किन्हीं केवली या श्रुतकेवली के दर्शन से ही हमारी इस सूक्ष्म शंका का समाधान हो सकेगा। इसप्रकार सूक्ष्म शंका सहित विचरते हुए वे मुनिवर सम्मेदशिखर तीर्थ की यात्रा करके लौटते समय वैशाली-कुण्डपुर में सिद्धार्थ महाराजा के राजप्रासाद के ऊपर से जा रहे थे और सोच रहे थे कि अहा ! यह एक तीर्थंकर की जन्मभूमि है; भारत के अन्तिम तीर्थंकर

इस नगरी में विराज रहे हैं – ऐसी महिमा करते-करते उनके आत्मा में कोई आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगा। अन्तर की गहराई में रही हुई सूक्ष्म शंका न जाने कहाँ चली गई ! शंकारहित नि:शंक हो जाने से उन मुनिवरों का आत्मा प्रफुल्लित हो उठा....अचानक यह क्या हुआ ? वह देखने के लिये पाठको ! चलो त्रिशला माता के भवन में चलें !....

राजप्रासाद के झरोखे में वर्द्धमान कुमार त्रिशला माता के साथ बैठे हैं। जैसे चैतन्य की स्वानुभूति द्वारा जिनवाणी माता सुशोभित होती है वैसे ही वीर कुँवर द्वारा त्रिशला माता शोभायमान हो रही थीं। माता-पुत्र के वात्सल्य का अद्वितीय दृश्य देखनेवालों के हृदय से स्नेह उमड़ता था। बालप्रभु महान स्वानुभूति की दिव्यता और साथ ही तीर्थंकरत्व की सातिशयता से सुशोभित हो रहे थे; नि:शंकता, प्रभावनादि आठ गुणों से वे अलंकृत थे। संजय और विजय मुनिराज जब आकाशमार्ग से गमन करते हुए राजप्रासाद के ऊपर आये तब अचानक ही उनकी दृष्टि वर्द्धमान कुँवर पर पड़ी; बाल-तीर्थंकर को देखकर वे आश्चर्य में पड़ गये....क्षणभर के लिये थम गये और उनकी महिमा का विचार करने लगे। इतने में सातिशय जिनमहिमा के प्रताप से उनका मतिज्ञान उज्ज्वल हुआ और सूक्ष्म शंकाओं का भी समाधान हो जाने से वे नि:शल्य हो गये।

इसप्रकार वीरनाथ प्रभु उनकी मति की उज्ज्वलता के कारण बने; इसलिये मुनिवरों ने प्रसन्नचित्त से उनको 'सन्मतिनाथ' नाम से सम्बोधन किया। वाह ! वीर-वर्द्धमान-महावीर-सन्मतिनाथ आपका एक मंगल-नामकरण इन्द्र ने, दूसरा माता-पिता ने, तीसरा देव ने और चौथा मुनिवरों ने किया। तीन उत्तम ज्ञान तथा चार उत्तम नामों को धारण करनेवाले आप त्रि-जगत को रत्नत्रय का इष्ट उपदेश देकर कल्याण करनेवाले हो; आपकी जय हो।

मुनिवरों ने प्रभु को 'सन्मतिनाथ' विशेषण से अलंकृत किया, जिससे प्रसन्न होकर नगरजनों ने उत्सव किया; देवों ने आकाश में बाजे बजाकर आनन्द मनाया; 'अहो सन्मतिनाथ ! आप हमें अपूर्व सम्यक्मति के दाता हो, आपकी पहिचान से हमारी मति सम्यक् हुई है....और उसके द्वारा चैतन्यतत्त्व प्राप्त करके हम आपके मार्ग की साधना कर रहे हैं। सबको सन्मतिदाता सन्मतिनाथ की जय हो....।

राजसभा में युवराज महावीर की धर्मचर्चा
(श्री वीरमुख से चैतन्य की अचिन्त्य महिमा का वर्णन)

वीरकुमार बीस वर्ष के हो गये थे। युवा होने पर भी अध्यात्मरस के रसिक वे राजकुमार राजयोगी समान जीवन जीते थे; कभी-कभी चैतन्य की धुन में लीन हो जाते और कभी तो अर्द्धरात्रि को राजभवन से बाहर निकलकर उद्यान में खड़े-खड़े ध्यान धरते थे....मानों कोई मुनिराज खड़े हों ! ऐसा होने पर भी कहीं दिनभर शून्यमनस्क – उदास नहीं बैठे रहते थे; सबके साथ हिलते-मिलते और प्रजाजनों के सुख-दुःख की बातें सुनते थे। यद्यपि राज्य का कार्यभार सम्हालने में उनकी रुचि नहीं थी, फिर भी कई बार राजसभा में जाते और पिता महाराज सिद्धार्थ के समीप बैठते थे। उनके आगमन से राजसभा सुशोभित हो उठती थी, सभाजन उनके दर्शन से आनन्दित होते और उनकी मधुर वाणी सुनकर मुग्ध हो जाते थे।

एकबार सभाजनों ने महाराजा सिद्धार्थ से प्रार्थना की – हे देव ! आज की राजसभा अद्भुत लग रही है; वीरकुँवर को देखकर मानों अन्तर में रत्नत्रय का उद्यान खिल उठा हो – ऐसी प्रसन्नता हो रही है। उनके श्रीमुख से हम सब आत्मतत्त्व की अचिन्त्य महिमा सुनना चाहते हैं।

महाराजा ने भी प्रसन्नता से उनके प्रस्ताव का समर्थन किया कि वाह ! धर्म चर्चा से उत्तम और क्या होगा ? इतना कहकर उन्होंने वीर कुँवर की ओर दृष्टि डाली और उन्हें बोलने का संकेत किया।

तब अत्यन्त मधुर धीर-गम्भीर वाणी द्वारा वीरकुमार ने चैतन्यतत्त्व की परम अचिन्त्य महिमा समझायी। प्रभु ने क्या कहा ? वह हम भी सुनें – अहो! चैतन्यतत्त्व स्वयं आनन्द स्वरूप है; पुद्गलपिण्ड शरीर से चैतन्य आत्मा भिन्न है; वह इन्द्रियों से परे चेतनारूप है और चेतना द्वारा ही उसका स्वसंवेदन होता है; किन्हीं बाह्य चिह्नों से अथवा इन्द्रिय ज्ञान द्वारा उसका ग्रहण (अनुभवन) नहीं हो सकता, इसलिये वह 'अलिंगग्रहण' है।

है चेतना अद्भुत अहो ! निज स्वरुप में वह व्यापती,
इन्द्रियों से पार हो निज, आत्म को वह देखती।

स्वानुभूतिवन्त जीव में सुन्दरपने वह शोभती।
आनन्द करती मस्त हो निज मोक्ष को वह साधती॥

राजयोगी वर्द्धमान ने स्वानुभूतिगम्य आत्मतत्त्व की ज्ञानचेतना का अद्भुत वीतरागी स्वरूप समझाते हुए कहा – यह ज्ञानचेतनास्वरूप आत्मा है, उस चेतना में रागादि विभावों का मिश्रण नहीं हैं। एक परमाणु जितने राग का भी यदि ज्ञानचेतना में मिश्रण करोगे तो ज्ञान के परमार्थ स्वाद का अनुभव नहीं होगा; राग में ज्ञान का रस नहीं है। इसलिये हे जीवो ! यह वीतराग उपदेश प्राप्त करके तुम सर्वत: राग से भिन्न ऐसे शुद्धज्ञान का आस्वादन करो। परम आनन्द स्वाद से भरपूर वह शुद्ध ज्ञान ही आत्मा का निजपद है। अहो ! यह ज्ञानस्वरूप आत्मा सत्य है, उसकी प्रीति करो, तन्मयता से उसका अनुभव करो; उसका अनुभव ही परमतृप्ति एवं सन्तोषदायक है.... वही कल्याण कारण है, और वही मोक्षसुखदायक है। आत्मा अनन्त शक्ति का स्वामी है, वह जब स्वयं जागृत हो तब सहज-प्रयत्न से अपना कल्याण कर लेता है।

एक सभाजन ने आतुरता से पूछा – प्रभो ! 'आत्मा अनन्तशक्ति सम्पन्न है' तो उसमें कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं ? वह आपके श्रीमुख से सुनने की उत्कण्ठा है।

उसके उत्तर में मोक्षसाधक युवराज महावीर ने चैतन्य स्वरूप आत्मा की अनन्त शक्तियों का अद्भुत, परम अध्यात्मरस पूरित वर्णन किया – अभेदरूप ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित करके ज्ञायक का अनुभव करने पर जीवत्व, चेतना, सुख, वीर्य, प्रभुता, विभुता, स्वसंवेदनता – आदि अनन्त चैतन्य शक्तिरूप से आत्मा एक साथ वेदन में आता है। अहा ! जिसकी प्रत्येक शक्ति की महत्ता अपार है ऐसी अनन्त शक्तियाँ, वे भी रागरहित शुद्ध परिणमन युक्त ऐसी अगाध शक्तिवान आत्मा की अद्भुत महिमा एक भावी तीर्थंकर के श्रीमुख से साक्षात् सुनकर अनेक भव्यजीव उस चैतन्यमहिमा में इतने गहरे उतर गये कि तत्क्षण ही महा-आनन्द सहित निर्विकल्प आत्मानुभूति को प्राप्त हुए और अनन्त शक्तियों का स्वाद एक साथ स्वानुभूति में चख लिया। एक राजकवि ने प्रभु द्वारा कही गई अनन्त शक्तियों का संक्षिप्त वर्णन तत्काल 'आत्मस्तवन' रूप में गूँथकर राजसभा को सुनाया। आप भी मधुर चैतन्यरस से भरपूर उस काव्य का रसास्वादन करें –

आत्म-स्तवन (४७ शक्ति काव्य)

जीव है अनन्ती शक्ति सम्पन्न, राग से वह भिन्न है।
उस जीव का निर्देश करने, ज्ञानमात्र कहा उसे ॥१॥
बस ज्ञानमात्र स्वभाव में ही, अनन्त शक्ति उछलती।
उन शक्तियों का करूँ वर्णन, जीव भवि जानो वही ॥२॥
'**जीवत्व**' से जीवित सदा, '**चिति**' शक्ति से वह चेतता।
'**दृशि**' शक्ति से देखे सभी को, '**ज्ञान**' से वह जानता ॥३॥
आकुल न हो '**सुख**' शक्ति से, निज को रचे गुण '**वीर्य**' से।
वह शोभता '**प्रभु**' शक्ति से, व्यापे वही '**विभु**' शक्ति से ॥४॥
सामान्य देखे विश्व को वह, '**सर्वदर्शि**' शक्ति है।
जाने विशेष हि विश्व को, '**सर्वज्ञता**' की शक्ति से ॥५॥
जहँ विश्व झलके स्वच्छ ऐसी, शक्ति है '**स्वच्छत्व**' की।
स्वानुभवमय प्रगट है वह, शक्ति जान '**प्रकाश**' की ॥६॥
'**न विकास अरु संकोच**' जिससे, शक्ति वह है तेरमी।
'**नहीं कार्य कारण भी किसी का**', यह शक्ति भी है आत्म की ॥७॥
जो ज्ञेय का ज्ञाता बने, अरु ज्ञेय बनता ज्ञान में।
'**परिणम्य परिणामक**' कहा, उस शक्ति को जिनशास्त्र में ॥८॥
'**नहिं त्याग वा नहिं ग्रहण भी**' निजरूप में स्थित जीव है।
निजरूप से यह जीव तिष्ठे, वह शक्ति '**अगुरुलघुत्व**' से ॥९॥
'**उत्पाद व्यय ध्रुव**' शक्ति से, जीव वृत्ति क्रम-अक्रम धरे।
तिहुँकाल में '**परिणाम**' शक्ति से, स्वसत्ता नहीं फिरे ॥१०॥
नहिं स्पर्श जानो जीव में, आतमप्रदेश '**अमूर्त**' हैं।
कर्ता नहीं परभाव का, ऐसी '**अकर्तृ**' शक्ति है ॥११॥
भोक्ता नहीं परभाव का, ऐसी '**अभोक्तृ**' शक्ति है।
निःस्पंद आत्मप्रदेश हैं बस, '**निष्क्रियत्व**' स्वशक्ति से ॥१२॥
आत्मप्रदेश असंख्य ही हैं '**नियत-प्रदेशी**' शक्ति से।
वह व्यापता न शरीर में '**निजधर्मव्यापक**' शक्ति से ॥१३॥

स्व-पर में सम और विषम मिश्ररूप भी जो रहे।
ऐसे **'त्रिविध निजशक्ति'** से, निजधर्म को आत्मा धरे ॥१४॥

धारे अनन्ते भाव चेतन, **'अनन्तधर्म'** स्वशक्ति से।
तत् अरु अतत् द्वय साथ रहते, **'विरुद्धधर्म'** स्वशक्ति से ॥१५॥

है ज्ञान का तद्रूप होना, **'तत्त्व'** नामक शक्ति से।
ज्ञान हो जड़रूप ना वह, **'अतत्त्व'** नामक शक्ति है ॥१६॥

जो व्यापता बहु पर्ययों में, पण एक द्रव्यपने रहे।
'एकत्व' शक्ति हि निज स्वरूपी, जान जीव शान्ति लहे ॥१७॥

द्रव्यरूप जो एक है, पर्याय में होवे **'अनेक'**।
निज पर्ययों में व्यापता, वह ज्ञान सुखमय सिद्ध हो ॥१८॥

'भावशक्ति' हि जीव की, सत् रूप उसको नित रखे।
पर्याय रूप से है असत् जीव भी, **'अभाव'** स्वशक्ति से ॥१९॥

'भाव का होवे अभाव' रु **'अभाव का हो भाव'** जो।
हो शक्ति ऐसी एकसाथहि, ज्ञान में तू जान रे ॥२०॥

'भाव वह तो भाव' अरु **'अभाव वह हो अभाव ही'**।
ऐसे स्वभावों से ही जीव, रहता नित्य ही चेतनमयी ॥२१॥

नहिं कारकों को अनुसरे, ऐसा हि रहना **'भाव'** से।
अरु कारकों को अनुसरे, निज की **'क्रिया'** की शक्ति से ॥२२॥

निज **'कर्म शक्ति'** से निजात्मा, सिद्ध पद पावे स्वयं।
अरु **'कर्तृ शक्ति'** से स्वयं ही, सिद्धरूप भावक स्वयं ॥२३॥

जो शुद्धभाव हि ज्ञानरूपी, भवन उनका स्वरूप से।
आत्मा स्वयं उस भाव का, उत्कृष्ट साधन होत है ॥२४॥

तब **'करण शक्ति'** हि जान रे, तू बाह्य साधन शोध मत।
आत्मा हि तेरा करण है, फिर अन्य बात रु पूछ मत ॥२५॥

आत्मा निजात्मा को ही देता, ज्ञानभाव स्वभाव से।
उसको ही लेता आत्मा, निज **'सम्प्रदान'** स्वभाव से ॥२६॥

'उत्पाद-व्यय से क्षणिक फिर भी, हानि ध्रुव में है नहीं।'
'**अपादान**' की शक्ति ऐसी, सेवो सदा निज में ही है ॥२७॥

जो भाव्यरूपी ज्ञानभाव हि, आत्मा में परिणमें।
आत्मा ही है '**अधिकरण**' उनका, है कहा जिनवचन में ॥२८॥

है '**स्वत्व अरु स्वामित्व**' मेरा, मात्र आत्मस्वभाव में।
स्वत्व मेरा नहिं कदा, निजभाव से कुछ अन्य में ॥२९॥

जयवन्त है अनेकान्त ऐसा, आत्मशक्ति का प्रकाशक।
मेरी अनन्ती शक्तियाँ मम, ज्ञान में ही सदा व्यापक ॥३०॥

मम ज्ञान लक्षण भाव के सह, उल्लसित भाव हि अनन्त।
अनुभव करूँ उनका अहो ! न विभाव कोई अनुभूत ॥३१॥

जिनमार्ग सब ही प्राप्त कर लें, वीर वचन प्रसाद से।
अन्तर में देखो रूप चेतन, पार जो परभाव से ॥३२॥

निज शक्ति से देखो निजात्मा, अन्तर्मुखी होकर अहो।
निज शक्ति का वैभव अहो ! वह पार है परभाव से ॥३३॥

मैं ज्ञानमात्र हि एक ज्ञायक, पिण्डमय हूँ आतमा।
गंभीरता है अनन्त जिसमें, देखा वही परमातमा ॥३४॥

आश्चर्य अद्भुत भासता, निज वैभवों को देखते।
आनन्दमय आह्लाद उछले, बार-बार हि ध्यावते ॥३५॥

अद्भुत अहो ! अद्भुत अहो ! हे विजयवन्त स्वभाव यह।
जयवन्त है अनेकान्त जिसने, निज निधान बता दिया ॥३६॥

(पूज्य श्री कानजीस्वामी जब अस्वस्थ थे, उससमय ब्र. हरिभाई उन्हें आत्मशान्ति का यह काव्य कई बार सुनाते थे; इसे सुनकर वे अति प्रसन्न होते थे। इस काव्य सम्बन्धी उनके प्रमोद भरे हस्ताक्षर यहाँ दिये जा रहे हैं।)

ॐ सहजात्म स्वरूप अनंत शक्ति संपन्न
चैतन्य चित् चमत्कार चिंतामणी
भगवान की जय.

वाह ! आत्मा के अपार वैभव का मधुर संगीत सुनकर सभाजन शान्त रस में निमग्न हो गये। आज की धर्म चर्चा में वे इतने तन्मय हो गये कि किसी को उठने का ही मन नहीं होता था। अहा ! एक तो अति सुन्दर आत्मतत्त्व की चर्चा और वह भी तीर्थंकर के श्रीमुख से....सुनकर किसे आनन्द नहीं होगा ? सबको ऐसा लगा कि अहा ! अभी तो चौथा काल धर्मयुग वर्त रहा है और अन्तिम तीर्थंकर का आत्मा हमारे समक्ष साक्षात् विराज रहा है। जगत के जीवों को तो उनकी दिव्यध्वनि/उपदेश उन्हें केवलज्ञान होने पर सुनने को मिलेगा, जबकि हमें – वैशाली गणतन्त्र के प्रजाजनों को तो वर्तमान में ही उनके श्रीमुख से धर्म श्रवण का महाभाग्य प्राप्त हुआ है तथा उनके प्रताप से अनेक जीव धर्म प्राप्त कर रहे हैं। – इसप्रकार वीर कुँवर की प्रशस्ति एवं जय-जयकार पूर्वक सभा समाप्त हुई।

वैरागी वर्द्धमान का विवाह से इन्कार

अहा ! बाल-तीर्थंकर वीरकुमार का जीवन तो ज्ञानचेतना सम्पन्न है। धर्म के भरे यौवन में वर्तते हुए वे अन्तरात्मा अपनी ज्ञानचेतना को विषय-कषायों से अत्यन्त दूर रखते हैं। एक तो राजपुत्र और उसमें युवावस्था होने पर भी उनके चित्त में कोई वासनाओं का उद्भव नहीं होता; वे तो अपनी चैतन्य मस्ती में मस्त हैं। शरीर के दिव्यरूप के साथ-साथ उनकी चेतना का रूप भी निखरता जा रहा है। ज्यों-ज्यों शरीर का रूप बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों वीरप्रभु की शरीर के प्रति विरक्ति में भी वृद्धि हो रही है। अहा ! देह की वृद्धि होने पर भी देह के प्रति ममत्व में वृद्धि नहीं हो रही है।

वैशाली गणतन्त्र के शृंगाररूप वर्द्धमानकुमार की वीरता एवं रूप गुणसम्पन्न युवावस्था को देखकर अनेक राजाओं की ओर से अपनी राजकुमारियों का विवाह वर्द्धमानकुमार से करने के लिये महाराजा सिद्धार्थ के पास मंगनी आने लगीं। एकबार कलिंग देश की चम्पापुरी के महाराजा जितशत्रु की ओर से सन्देश लेकर एक राजदूत वैशाली कुण्डपुर आया और उत्तम भेंटों द्वारा महाराजा तथा वीरकुँवर का सम्मान करके कहने लगा – हे महाराज ! हमारे महाराजा की राजकुमारी यशोदा रूप-गुणसम्पन्न है; जैसे उत्तम उसके धर्म-संस्कार हैं, वैसा ही अद्भुत रूप-यौवन है; श्री वीर कुँवर के उत्तम गुणों से आकर्षित होकर हमारे महाराजा ने राजकुमारी यशोदा का विवाह वीर कुँवर के साथ करने का निश्चय किया है, वह प्रस्ताव लेकर मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।

सिद्धार्थ महाराजा ने दूत की बात सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की और उसका सम्मान किया। जब त्रिशला माता ने यह बात सुनी तब उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई और कलिंग देश की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा से विवाह करने हेतु वीर कुँवर की सम्मति माँगी। परन्तु....वे तो वीर....वीतरागता को वर्द्धमान करने वाले महावीर...कुछ वर्षों की आयु में, जिन्हें महान कार्य करना है – ऐसे उन वैरागी महात्मा का हृदय पहले से ही संसार से विरक्त था; विषयों से परे चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का आस्वादन करके जो सदा मुक्ति सुन्दरी के साथ आनन्द करते हैं और अलौकिक मुक्ति सुन्दरी के प्रति जिनका चित्त आकर्षित है, उनको सांसारिक भोगों की आकांक्षा कैसे होती?

जब माताजी ने यशोदा सुन्दरी के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा, तब वीर कुँवर क्षण भर तो माता के समक्ष देखते रह गये। माता के हृदय को आघात न लगे, अत: गम्भीरता से मुस्कराते हुए कहा – हे माता ! आपका पुत्र-प्रेम अपार है; किन्तु अपने प्रिय पुत्र को संसार बन्धन में बाँधने का मोह न करो। आप जानती हैं कि इसी भव में मुझे अपनी मोक्षसाधना पूरी करनी है। आयु अल्प है, यहाँ विषय कषाय के पिंजरे में बन्द हो जाना मुझे योग्य नहीं है। इसलिये हे माताजी ! आप भी मोह छोड़ो और मेरे विवाह की बात न करो। 'वीर मेरा पुत्र और मैं उसकी माता' – ऐसी मोहदृष्टि से मुझे न देखो; परन्तु अल्पकाल में ही यह आत्मा मोक्ष को साधनेवाला है – ऐसी तत्त्वदृष्टि से देखो।

अपने लाड़ले पुत्र के विवाह की अभिलाषा किस माता को नहीं होगी ? वैरागी वीर कुँवर की बात सुनकर त्रिशला माता के हृदय को आघात तो लगा; परन्तु वे तो यथार्थ परिस्थिति को जानती थीं, महावीर की दृढ़ता से परिचित थीं; वे समझ गईं कि वीरकुँवर को विवाह के लिये समझाना कठिन है। उन्होंने विचार किया कि जो पुत्र महावीर कह रहा है वही योग्य है। मेरा पुत्र विवाह करके सांसारिक बन्धनों में बँध जाये, उसकी अपेक्षा लाखों भव्यजीवों का उद्धार करके मुक्तिसुन्दरी का वरण करे यही उचित है, उत्तम है। ऐसा समझते हुए भी पुत्र-मोहवश माता का हृदय पुकार उठा कि बेटा, तेरी बात सच है; परन्तु अभी तेरी युवावस्था है, इसलिये विवाह करके गृहस्थाश्रम चलाओ, फिर संसार छोड़कर धर्मतीर्थ चलाना। तुमसे पूर्व ऋषभादि तीर्थंकरों ने भी ऐसा ही किया है।

महावीर ने कहा – माँ ! समझते हुए भी तुम पुत्रमोह के कारण ऐसा कह रही हो। हे माता ! क्या संसार के जाल को तुम नहीं जानती ! देखो तो सही, कितना दुःखी है यह विषयाधीन संसार ! इससे तो जितनी जल्दी छूटा जा सके उतना अच्छा ! हे माता ! इस सम्बन्ध में ऋषभादि तीर्थंकरों का उदाहरण मेरे लिये उचित नहीं है; क्योंकि उनकी आयु तो करोड़ों-अरबों वर्ष की अतिदीर्घ थी; जबकि मेरी आयु तो मात्र ७२ वर्ष की है और उसमें से तीस वर्ष तो व्यतीत हो चुके हैं; मेरे लिये तो पिछले तीर्थंकर श्री नेमिनाथ और पार्श्वनाथ का उदाहरण ही ठीक लगता है; उन तीर्थंकरों ने विवाह नहीं किया था, उसीप्रकार मैं भी विवाह के बन्धन में आत्मा को नहीं बाँधना चाहता।

बस ! पुत्र के हृदय को बराबर जाननेवाली माता ने फिर कोई विशेष तर्क नहीं किया। पुत्र की महानता देखकर वे मन ही मन गौरव का अनुभव करने लगीं; उनके मोह पर मानों महावीर के वैराग्य का कुठाराघात होने से मोह के टुकड़े होने लगे; धर्म साधना के प्रति उनका चित्त दृढ़ हो गया। कलिंग के राजदूत को निराशा पूर्वक विदा करना पड़ा....हाँ, परन्तु वीर कुँवर ने यशोदा कुमारी के लिये एक अमूल्य भेंट भेजी.... वह भेंट अर्थात् 'उत्तम वैराग्यजीवन जीने का महान आदर्श !' यशोदाकुमारी ने भी बड़े उत्साहपूर्वक उस महानआदर्श को स्वीकार किया और राजुल की भाँति वैराग्य पूर्वक अपना जीवन आत्मसाधना के मार्ग में लगाया।

जब कुण्डग्राम के निकट स्थित वैशाली में त्रिशला माता की सबसे छोटी बहिन राजकुमारी चन्दनबाला ने उपरोक्त घटना सुनी, तब उस वीर मौसी ने हार्दिक उल्लासपूर्वक वर्द्धमानकुमार के वैराग्य का स्वागत किया – वाह ! धन्य है महावीर को ! चन्दना अभी छोटी है; परन्तु उसका हृदय महान है। वीरकुमार विवाह नहीं करेंगे यह जानकर मौसी चन्दनबाला ने भी मन ही मन विवाह न करने का निर्णय कर लिया। धन्य चन्दना ! और धन्य हो तुम्हारे शील का सौरभ !!

वीरकुमार की मौसी चन्दना से चर्चा

चन्दना ने समझ लिया कि विरागी अब अधिक दिनों तक गृहवास नहीं करेंगे, इसलिये अपने भानजे (बहनोता) महावीर से मिलने तथा उनके साथ वैराग्य चर्चा करने हेतु उसका मन लालायित हो उठा और कुछ ही दिनों में वह कुण्डग्राम

पहुँच गई। चन्दनबाला वहाँ पहुँचकर बड़ी बहिन त्रिशलादेवी के पास बैठकर वीरकुमार का गुणगान कर रही थी, इतने में प्रिय कुमार आ पहुँचे। छोटी मौसी को देखकर वीरकुमार ने प्रसन्नता व्यक्त की और वैरागी भानजे को देखकर चन्दना का हृदय भी उनके प्रति नतमस्तक हो गया। वह कहने लगी – वीरकुमार ! तुम्हारे उत्तम गुणों को देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है। अहा·! एक तीर्थंकर की मौसी होने के नाते मेरा हृदय गौरव का अनुभव करता है...परन्तु प्रिय वीरकुमार ! मैं मात्र तुम्हारी मौसी होकर नहीं रहूँगी...जब तुम तीर्थंकर होओगे और जगत को मोक्षमार्ग का उपदेश दोगे, तब मैं भी तुम्हारे मार्ग का अनुसरण करके तुम्हारे शासन में धर्मसाधना कर गौरव का अनुभव करूँगी।

'हाँ मौसी !' महावीर ने कहा – 'तुम्हारी बात सच है; तुम्हारे उत्तम धर्मसंस्कारों को मैं जानता हूँ, तुम भी संसार के मोहजाल में फँसना नहीं चाहती और आत्मसाधना में ही जीवन बिताना चाहती हो, यह जानकर मुझे आनन्द होता है।'

देवकुमार वर्द्धमान ! राग से अलिप्त ज्ञानचेतना की अपार महिमा तुम्हारे जीवन में दिखायी देती है, जिसे देखकर हमारी चेतना भी जागृत हो जाती है और मानों इसीसमय निर्विकल्प चेतना का आस्वादन कर लूँ, इसप्रकार अत्यन्त उत्कण्ठा होती है; किन्तु अन्तर में आत्मा का विचार करते हुए विकल्प भी साथ ही साथ दिखते रहते हैं। वे विकल्प चैतन्य का स्वाद नहीं लेने देते; तो उनसे छूटकर चैतन्य का आस्वादन कैसे किया जाये ? उसकी रीति बतलाओ न !

महावीर ने कहा – 'वाह मौसी !' चैतन्य के रसास्वादन की तुम्हारी ऐसी उत्कण्ठा देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। देखो, **अन्तर में विचार के समय जो विकल्प दिखाई देते हैं, उसी समय विकल्पों को जाननेवाला ज्ञान भी साथ ही है न ! वह ज्ञान कहीं विकल्पों को नहीं करता। ज्ञान विकल्पों को जानता है, किन्तु उन्हें करता नहीं है। चैतन्य के चिन्तनकाल में जो किंचित् भी शान्ति का आभास होता है, वह ज्ञान का कार्य है और जो विकल्प रह जाते हैं वह राग का कार्य है।** इसप्रकार ज्ञान और राग दोनों के कार्य एक-दूसरे से विरुद्ध हैं; उन दोनों को भली-भाँति जानने से ज्ञान का रस अधिक हो जायेगा और राग का रस टूट जायेगा। **ज्ञान अपने रस में वृद्धि करता-करता अन्त में अपने अनन्त चैतन्यभावों से भरपूर एक ज्ञानस्वभाव में ही**

तन्मय होकर उसके अतीन्द्रिय महान आनन्द का स्वाद लेगा। मौसी, तुम प्रयत्न करोगी तो आज ही तुम्हें उस अपूर्व स्वाद का अनुभव होगा।

अहा ! प्रभु वर्द्धमान ! तुम्हारी ऐसी उत्तम बात और उत्तम प्रेरणा से मेरा आत्मा झंकृत हो उठता है; मैं इसी समय वह चैतन्यस्वाद लेने के लिये अन्तरोन्मुख होती हूँ। तुम्हारे पास से चैतन्यस्वरूप की जो अपार गम्भीर महिमा सुनी है उसे अभी हाल अनुभवगोचर करती हूँ।

'बहुत ही अच्छा !' ऐसा कहकर महावीर ने उसका अनुमोदन किया और चन्दनबाला तुरन्त ही गम्भीर वैराग्य से चैतन्य के उल्लसित भावों से आत्मस्वरूप का चिन्तवन करने लगी। अहा ! क्षण-दो क्षण हुए कि चन्दना को चैतन्यदेव जागृत होने लगे....चन्दन जैसी आनन्दमय सुगन्ध से उसका आत्मा महक उठा। भावी तीर्थंकर सामने ही बैठे हैं; परन्तु अभी चन्दना को उनका भी लक्ष्य नहीं है, वह तो निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति में निमग्न होकर आत्मा में सम्यक्त्व तीर्थ का प्रारम्भ कर रही है....मानों कोई लघु तीर्थंकर गृह-आँगन में तीर्थ का प्रवर्तन कर रहे हों। धन्य हुई चन्दनबाला ! उसने वीरतापूर्वक सदा के लिये स्त्री पर्याय का छेदन कर दिया। वाह रे वाह ! तीर्थंकर की माता की लाड़ली बहिन ! तूने अपना जीवन सफल कर लिया। स्वानुभूति की निर्विकल्प दशा से उपयोग बाहर आने पर भी चन्दना की दशा कोई परम अद्भुत थी। उस गम्भीरता को देखकर वीर कुँवर समझ गये कि मौसी को अपूर्व आनन्द की अनुभूति हो चुकी है। अहा ! उन सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा मौसी को देखकर महावीर भी आनन्दित हुए। चन्दनबाला ने अपनी बड़ी दीदी त्रिशलादेवी के साथ स्वानुभूति की महिमा और साथ-साथ वीर कुँवर की महिमा की गम्भीर चर्चा की। 'दोनों सम्यग्दृष्टि बहिनों की चर्चा वास्तव में अद्भुत थी, उसमें से मानों अतीन्द्रिय आनन्द के झरने झरते थे....परभावों से अलिप्त ज्ञानचेतना की अगाध महिमा उसमें भरी थी....' धन्य है ऐसे ज्ञानचेतनावन्त धर्मी जीव।

दो बहिनों की सुन्दर धर्म-चर्चा

राजकुमार वर्द्धमान और वैराग्यवती चन्दनबाला की अद्भुत चैतन्यरसपूर्ण चर्चा और उसके फलस्वरूप चन्दनबाला को सम्यक्त्व की प्राप्ति का आनन्ददायी वर्णन हमने पढ़ा। पश्चात् चन्दना ने त्रिशला दीदी के साथ स्वानुभव की तथा वीर

कुँवर की महिमावाचक जो अद्भुत चर्चा की, उसे जानने की आत्मार्थी पाठकों की उत्कण्ठा देखकर यहाँ वह सुन्दर चर्चा दे रहे हैं –

चन्दना ने हर्षित होकर कहा – दीदी, वीर वर्द्धमान कुँवर को प्राप्त करके हम सचमुच धन्य हो गये हैं; उनकी ज्ञानचेतना की गम्भीरता और वीतरागी अनुभूति अति गहन है।

त्रिशला देवी बोलीं – हाँ, बहिन चन्दना ! तेरी बात सच है; वीर कुँवर तो 'आनन्द की चलती-फिरती अनुभूति' हैं; उन्हें देखकर ऐसा लगता है जैसे अपने घर में चलते-फिरते छोटे सिद्ध हों। ऐसे गम्भीर वीर कुँवर कई बार मेरे पास अपना हृदय खोलते हैं और अपनी गम्भीर अनुभूति के रहस्य मुझे बतलाते हैं...उस समय यह संसार विस्मृत हो जाता है और आत्मा में ऐसी झनझनाहट उठती है जैसे मोक्षपुरी में केलि कर रही होऊँ।

चन्दना – अरे दीदी ! मुझे भी महावीर ने आज स्वानुभूति के गहन रहस्य समझाकर आनन्द का अपूर्व अनुभव कराया है। मेरे लिये तो उन्होंने आज से ही धर्मतीर्थ का प्रवर्तन प्रारम्भ कर दिया। उनके अपूर्व उपकार की क्या बात करूँ !

त्रिशला – बहिन, आत्मशान्ति से भरपूर उनकी वाणी चमत्कारिक है, उसे सुनकर आश्चर्य होता है और चैतन्यभाव जाग उठता है।

चन्दना – हाँ दीदी, आज ही मुझे उनकी प्रसन्न वाणी का लाभ प्राप्त हुआ और मेरे आत्मा में अपूर्व चैतन्यभाव जाग उठे....रागरहित ज्ञानरस कितना मीठा है उसका मैंने आज आस्वादन किया।

त्रिशला – वाह चन्दना ! तू धन्य हो गई ! मेरी लाड़ली छोटी बहिन आत्मानुभूति को प्राप्त हो – ऐसी उत्कंठा मुझे बहुत दिनों से थी, जो आज पूरी हुई। तेरी बातें सुनकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

चन्दना – अहा, वर्द्धमान तो वर्द्धमान ही हैं; उनकी वैराग्यदशा पाताल जैसी गहरी है।

त्रिशला – ठीक है बहिन ! **'ज्ञानकला जिसके घट जागी....ते जगमाहिं सहज वैरागी'** ऐसा जो सिद्धान्त वचन है वह हमें तो अपने घर में ही चलता-फिरता प्रत्यक्ष दिखायी देता है। और चन्दना बहिन ! तेरा जीवन भी वीर कुँवर

के सम्पर्क से स्वानुभूति प्राप्त करके कैसा सुशोभित हो रहा है ! महावीरकुमार जब तीर्थंकर होकर धर्म-नेता बनेंगे तब तू भी भारत के समस्त श्राविका संघ की तथा आर्यिका संघ की नायिकारूप से समवसरण में शोभा देगी।

बड़ी बहिन की यह बात सुनकर चन्दना प्रसन्नता से बोली – दीदी ! धन्य है वह अवसर ! मैं उस दिन की भावना भाती हूँ जब वीरकुमार को सर्वज्ञरूप में देखूँ और उनकी धर्मसभा में बैठकर आत्मसाधना करूँ। साध्यरूप आत्मा को उनके प्रताप से हमने अपने अन्तर में देख लिया है और अन्दर में अपूर्व आत्मसाधना प्रारम्भ हो चुकी है।

'अहा ! मेरा पुत्र महावीर इस जीवन में ही सर्वज्ञ बनेगा....मैं सर्वज्ञ महावीर की माता कहलाऊँगी और एक अवतार के बाद मेरे भी भव का अन्त होकर, मैं भी सर्वज्ञ परमात्मा बनूँगी।' ऐसे विचार से प्रियकारिणी-त्रिशला देवी का चित्त किसी अनुपम आह्लाद का अनुभव करने लगा। अहा ! अपने ही आत्मा को सर्वज्ञ-परमात्मारूप से देखकर मुमुक्षु का हृदय आनन्दित हो – इसमें क्या आश्चर्य ! अन्तरंग हर्ष व्यक्त करते हुए त्रिशला देवी बोलीं – प्रिय बहिन चन्दना ! अब अनुभूति के प्रभाव से अपनी स्त्री पर्याय का छेद हो गया, इतना ही नहीं अपने संसार का भी अन्त आ गया....एक भव पश्चात् हम परमात्मपद की साधना करके मोक्षपुरी में पहुँच जायेंगे।

चन्दना बोली – अरे दीदी ! उस मोक्षपुरी के स्मरण से भी हमें कितना आनन्द होता है....तो उस साक्षात् दशा का क्या कहना ! इन्द्रियज्ञान से उसका अनुमान भी नहीं हो सकता; अपने ज्ञान में अंशत: अतीन्द्रियपना हो तभी उस सर्वज्ञ सुख को जाना जा सकता है। अचिन्त्य है उसकी महिमा !

त्रिशला देवी कहने लगीं – हाँ चन्दना ! ऐसे अपार महिमावन्त आत्मा का स्वानुभूति में इस समय भी अनुभव होता है। आत्मा के एकत्व की वह अनुभूति 'अभेद' होने पर भी एकान्त नहीं है; आत्मा के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अनन्त

स्वभावधर्म उस अनुभूति के अन्तर्गत् वेदन में आते हैं इसलिये वह अनेकान्त स्वरूप है, उस शुद्ध परिणतिरूप से परिणमता आत्मा अपने एकत्व स्वरूप में शोभायमान है।

चन्दना – वाह दीदी ! आपने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया। स्वानुभूति में पर के सम्बन्ध रहित अर्थात् विभक्त आत्मा अकेला वेदन में आता है इसलिये उसे एकत्व की अनुभूति कहा गया, परन्तु उस एकत्व में भी गुण-पर्याय तो वर्तते ही हैं; ऐसी अनुभूति वह 'एकत्व-विभक्त' शुद्ध आत्मा की अनुभूति है; **वही समस्त जैन शासन की अनुभूति है।** सचमुच, महावीर प्रभु के प्रताप से जैन शासन में अनेकों जीव आत्मा की ऐसी अनुभूति प्राप्त करके अपना कल्याण करेंगे। जब दोनों धर्मात्मा बहिनें इसप्रकार स्वानुभूति की तथा महावीर की महिमा का गुणगान कर रही थीं, तब महावीर कुमार तो उद्यान के एकान्त स्थल में बैठे-बैठे आत्मध्यान में निर्विकल्प स्वानुभूति के महा-आनन्द का साक्षात् वेदन कर रहे थे, दोनों बहिनें दूर से वह दृश्य देखकर आश्चर्य मुग्ध हो गईं; धन्य हैं महावीर ! मानों कोई छोटे से सिद्ध बैठे हों।

उद्यान में आत्मध्यान करते हुए उन राजकुमार का दृश्य सचमुच दर्शनीय था। आत्मध्यान का वह दृश्य वीतरागी आत्मसाधना की प्रेरणा देता था। कुछ देर बाद जब प्रभु की ध्यानदशा समाप्त हुई और अमृत झरते नेत्र खुले, उस समय अनेक प्रजाजन प्रभु के दर्शन हेतु एकत्रित हुए थे। उद्यान भी अद्भुत सौन्दर्य में प्रफुल्लित हो रहा था। उसमें खिले हुए विविध प्रकार के पुष्पों एवं फलों से आच्छादित वृक्ष शोभायमान हो रहे थे; चारों ओर पुष्पों की सुगन्ध फैल रही थी। राजकुमार महावीर उस प्रफुल्लित उद्यान की शोभा निहारते हुए साथ ही अन्तर में सम्यक्त्वादि एवं आनन्दादि के पुष्पों से आच्छादित अपने चैतन्य उद्यान में क्रीड़ारत थे। 'अहा ! मेरे आत्म-उद्यान में जैसे सम्यक्त्व एवं आनन्दादि के अतीन्द्रिय फल-फूल खिल रहे हैं, वैसे क्या अन्यत्र कहीं खिलते होंगे ?...नहीं। जगत में मेरा आत्माराम ....आनन्दमय चैतन्य उद्यान ही सबसे सुन्दर है। उस आत्म उद्यान में केलि करते हुए जिस आनन्दमय शीतलता एवं शान्ति का वेदन होता है वह अनिर्वचनीय है।' – ऐसी अन्तरधारा सहित उद्यान की शोभा देखते-देखते कुमार की दृष्टि एक वृक्ष पर पड़ी, जिसमें एक हजारों पंखुरियों वाला सुन्दर फूल खिला हुआ था; उसे देखकर कुमार बोले –

वाह! वृक्ष पर खिला हुआ फूल उस पर कैसा सुशोभित होता है, जिसप्रकार इस वृक्ष पर यह फूल शोभा दे रहा है, उसीप्रकार आत्मारूपी चैतन्यवृक्ष भी उस पर खिले हुए अनन्त पंखुरियों वाले सम्यक्त्वादि पुष्पों से सुशोभित है, उसका सौन्दर्य अनुपम है।

वीरकुमार चैतन्य-उद्यान की प्रशंसा कर रहे थे, इतने में एक कुमार ने वह सुन्दर पुष्प लाकर आदर सहित वीरकुमार के चरणों में रख दिया। सब लोग आनन्द पूर्वक देख रहे थे।

तब वीरकुमार ने गम्भीरता से कहा – बन्धु! यह पुष्प वृक्ष की डाल पर जैसा शोभा दे रहा था वैसा अब नहीं देता; उसकी शोभा नष्ट हो गई है; माता से बिछुड़े हुए बालक की भाँति वह मुरझा रहा है। पुष्प को उसकी डाली से पृथक् करना वह तो वृक्ष तथा पुष्प दोनों की सुन्दरता को नष्ट कर देना है। देखो न, पुष्प रहित वृक्ष कैसा शोक मग्न लगता है। अपनी प्रसन्नता के लिये हम दूसरे जीवों का सौन्दर्य नष्ट कर दें वह क्या उचित लगता है? दूसरों को कष्ट दिये बिना हम आनन्द प्रमोद करें, वही उचित है।

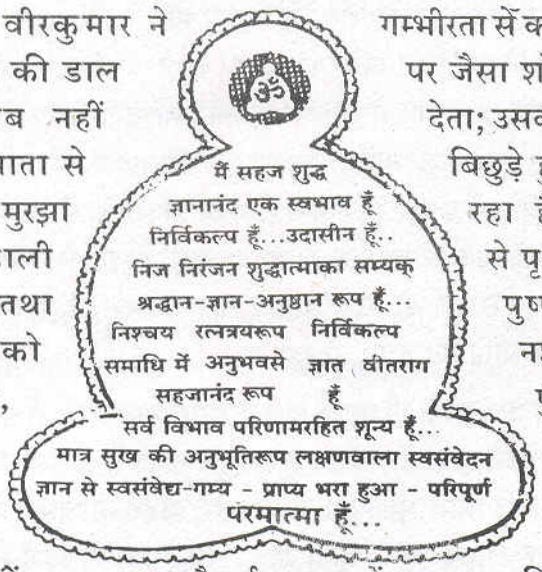

इसप्रकार सहजरूप से अहिंसादि की प्ररूपणा करके वीरकुमार वीतरागता फैला रहे थे। धन्य उनका जीवन! गृहवास में भी धर्मात्मा राजपुत्र का जीवन अलौकिक था। वे गृहवासी भगवान बारम्बार सामायिक का प्रयोग भी करते थे। सामायिक की स्थिति में वे इसप्रकार मन की एकाग्रतापूर्वक धर्म ध्यानरूप आत्मचिन्तन करते थे, मानों एकान्त में कोई मुनिराज विराज रहे हों, उस समय में वे राग-द्वेष से परे समभावरूप वीतराग परिणति का विशेष आनन्द अनुभवते थे। उनकी सामायिक कोई अमुक शब्दपाठ बोलनेरूप नहीं थी, किसी के नाम का

जाप भी उसमें नहीं था; उसमें तो आत्मस्वरूप की भावना से चैतन्य की किसी अपारशान्ति का वेदन था कि जिस वेदन की वीतरागता में उनका आत्मा दो क्षण के लिए राग-द्वेष की परिणति से भिन्न हो जाता था।

ऐसे तो उन महात्मा का जीवन राग-द्वेष से परे था, परन्तु शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प होकर वे जिस आत्मानन्द का वेदन करते थे, वह एक अनिर्वचनीय विशिष्ट दशा थी। सामायिक के समय वे कैसा आत्मचिन्तन करते थे, वह उन्हीं के श्रीमुख से सुनें।

वीर राजकुमार सदा ऐसे शुद्धात्मा की भावना भाते थे। विलक्षण थी उनकी आत्मधुन....और विशुद्ध थी उनकी ध्यानधारा ! कभी-कभी अर्धरात्री के समय अचानक चैतन्य की धुन लगने से वे ध्यान में लीन हो जाते थे। उन्हें राजभवन में आराम से निद्रा लेना अच्छा नहीं लगता था। राजप्रासाद की दीवारों के बन्धन तोड़कर तथा राग को भी छोड़कर, अनन्त तीर्थंकरों की पंक्ति में प्रवेश करने की अधिकाधिक उर्मियाँ उनके अन्तर में उल्लसित होती थीं। स्वर्गलोक से आने वाले दिव्य वस्त्राभूषण एवं रसपूर्ण भोजन के प्रति वे नीरस होते जा रहे थे; उनका हृदय अब शीघ्र ही मोक्ष प्राप्ति हेतु तत्पर हो रहा था।

दूसरी ओर त्रिशला माता भी पुत्र के मुख से आत्मवैभव की बातें सुन-सुनकर हर्षविभोर हो जातीं और कहतीं...बेटा, तू सचमुच पहले से ही इस राजभवन में रहकर भी परमात्मा की भाँति अलिप्त रहता था। तेरी ज्ञानचेतना तुझ में ही भीतर-भीतर कोई परमात्म लीला करती रहती थी....वह हम बहुत दिनों से देख रहे थे....अब तो कुछ समय पश्चात् सारा जगत भी तुम्हारी ज्ञानचेतना की अद्‌भुत परमात्म लीला देखकर धन्य होगा।

'धन्य माता ! तुम्हारी ज्ञानचेतना की प्रतीति यथार्थ है। तुम स्वयं ज्ञानचेतना के मधुर आनन्द स्वाद का आस्वादन करनेवाली हो। मैं इस भव में, तो तुम उस भव में....अवश्य मोक्ष साधने वाली हो।'

बेटा ! तुम्हारी वीरता भरी मीठी-मीठी बातों से मैं मुग्ध हो जाती हूँ....ऐसा लगता है कि तुम्हारी बातें सुनती ही रहूँ; किन्तु रह-रहकर मन में ममता की लहर आ जाती है कि तुम सचमुच यह सब छोड़कर चले जाओगे ?... फिर मुझे 'माँ'

कहकर कौन बुलायेगा ? यह राजभवन और वैभव सब तेरे बिना सूने-सूने लगेंगे।

सुनो माँ ! यह सब मोह-ममता है। मैं तीस वर्ष तक इस राज-पाट और हीरे-जवाहरात की सुख-समृद्धि में रहा, परन्तु मुझे इनमें कहीं चेतनता दिखायी नहीं दी, इन अचेतन पदार्थों में मैंने कहीं सुख या चैतन्य की चमक नहीं देखी,... और हे माता ! यह सब छोड़कर मैं कहीं दुःखी होनेवाला तो नहीं हूँ, उलटा इनमें रह कर जो सुख मैं भोगता हूँ उसकी अपेक्षा कोई विशिष्ट सुख मुझे प्राप्त होनेवाला है....और तुम देखना कि तुम्हारे इन अचेतन हीरों की अपेक्षा कोई अपूर्व-अमूल्य-महान-त्रिलोक प्रकाशी चैतन्यरत्न लेकर कुछ ही समय पश्चात् मैं परमात्मा बनकर वैशाली में आऊँगा।

वीर कुँवर की बातें सुनकर त्रिशला माता को हार्दिक प्रसन्नता होती थी कि–

अरे, इस समय भी मेरे पुत्र का ज्ञान कितना विकसित है...उसकी चैतन्यरसयुक्त वाणी मन भरकर सुन लूँ... ऐसा सोचकर माता-पुत्र ने हृदय खोल-खोलकर आत्म-साधना के विषय में अनेक प्रकार की चर्चाएँ कीं।

अहा ! ऐसे बाल-तीर्थंकर के साथ व्यक्तिगत रूप से धर्मचर्चा करने में मुमुक्षु को कितना आनन्द आता होगा ? और उनके मुख से स्वानुभूति के रहस्य सुनकर कौन स्वानुभूति को प्राप्त नहीं होगा ? अरे, राजभवन में रहनेवाले राज-सेवक भी उनके श्रीमुख से खिरती वाणी सुनकर मुग्ध हो जाते थे और किन्हीं-किन्हीं को स्वानुभव भी हो जाता था। इसप्रकार द्रव्य-तीर्थंकर के प्रताप से चारों ओर धर्मप्रभावना हो रही थी और भाव-तीर्थंकर होने का दिन भी निकट आता जा रहा था। दो के बाद अब तीसरे कल्याणक की तैयारी होने लगी थी।

भगवान महावीर : वैराग्य और दीक्षा
(मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी)

आज पूरी रात राजकुमार वर्द्धमान चैतन्य की अनोखी धुन में थे; निद्रा का तो नाम ही नहीं था; उपयोग बारम्बार चैतन्य की अनुभूति में स्थिर हो जाता था। परभावों से थककर विमुख हुआ उनका उपयोग अब आनन्दमय निजघर में ही सम्पूर्ण रूप से स्थिर रहना चाहता था। तीस वर्ष के राजकुमार का चित्त आज अचानक ही संसार से विरक्त हो गया है; मोक्षार्थी जीव प्रशम हेतु किन्हीं बाह्य

कारणों को नहीं ढूँढते, प्रशम तो उनके अन्तर से स्वयमेव स्फुरित होता है।

आज प्रात:काल महावीर ने सिद्धों का स्मरण करके आत्मा का ध्यान किया। आज उनके वैराग्य की धारा कोई अप्रतिम थी। विशुद्धता में वृद्धि हो रही है, उपयोग क्षणभर में अन्तर्मुख निर्विकल्प हो जाता है और पुन: बाहर आ जाता है; परन्तु बाह्य में उसे चैन नहीं पड़ता, वह सर्वत्र से छूटकर, विभावरूप परदेश से लौट कर, स्वभावरूप स्वदेश में स्थिर रहना चाहता है।

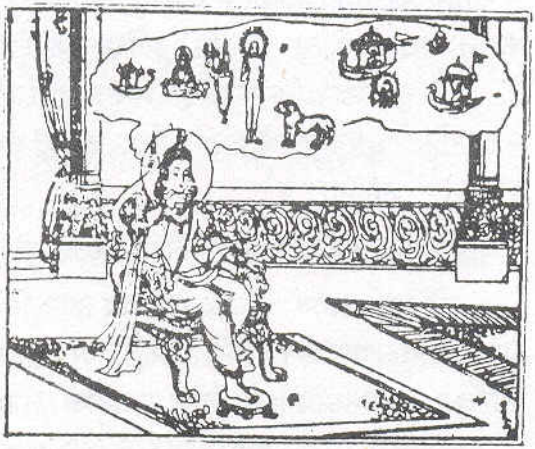

बारम्बार ऐसी दशा में झूलते हुए प्रभु के मतिज्ञान में सहसा कोई विशिष्ट निर्मलता झलक उठी, उनको जातिस्मरण हुआ; स्वर्गलोक के दिव्य दृश्य देखे, चक्रवर्ती का वैभव दिखा, सिंह दिखा, सम्यक्त्व का बोध देते हुए मुनिवर दिखे; उससे पूर्व की नरकगति भी दिखी। इसप्रकार अनेक पूर्वभव देखकर तुरन्त वीरप्रभु का चित्त संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा लेने हेतु उद्यत हुआ। अरे, कहाँ वे नरक के घोर दु:ख और कहाँ स्वानुभूति का सुख! कहाँ वे सिंह पर्याय में हिंसा और क्रूरता के रौद्र परिणाम और कहाँ सम्यक्त्व की शान्ति! – दोनों में अटूट रहनेवाला एक महान ज्ञायकभाव मैं हूँ – ऐसे अपने एकत्व का चिन्तवन करते हुए वे बारम्बार निर्विकल्प हो जाते थे। बारम्बार इतनी अधिक निर्मलता एवं निर्विकल्पता होती थी कि बस, अब शुद्धोपयोगी मुनिदशा के बिना यह जीव रह नहीं सकेगा। इसप्रकार महावीर ने अपने मन में दीक्षा का निर्णय किया।

महावीर का निर्णय अर्थात् वज्र-निर्णय...महावीर का निर्णय अर्थात् अचल निर्णय...महावीरकुमार ने दीक्षा ग्रहण का दृढ़ निर्णय किया और परम विरक्त चित्त से एकबार निर्विकल्प अनुभूति में लीन हो गये।

राजकुमार सिंहासन पर बैठे हैं....चैतन्य की गम्भीरता में ऐसे लीन हैं कि

दुनियाँ का लक्ष्य ही नहीं रहा। अरे, त्रिशला माता आकर सामने खड़ी हैं, उनका भी उन्हें लक्ष्य नहीं है। माता तो देखती ही रह गईं कि – वाह ! मेरा पुत्र वैराग्यमुद्रा में कैसी अद्भुत सुशोभित हो रहा है। अहा, इसकी शान्त वैराग्यमुद्रा देखकर मुझे अनुपम आनन्द होता है...मानों देखती ही रहूँ ! इसप्रकार त्रिशला माता के हृदय में अत्यन्त स्नेह उमड़ रहा है और वे मन ही मन पुत्र को आशीर्वाद दे रही हैं। सचमुच आशीर्वाद दे रही हैं या आशीर्वाद के बहाने उनकी भक्ति कर रही हैं – यह तो वे ही जानें।

कुछ समय पश्चात् महावीर ने नेत्र खोले तो देखा कि सामने माताजी खड़ी हैं। माता को देखकर उनकी वैराग्यमुद्रा किंचित् मुस्करा उठी। माता ने स्नेह से पूछा – बेटा वर्धमान ! आज तुम इतने विचारमग्न क्यों हो ?....तब वीर कुँवर के मुख से गम्भीर वाणी निकली – हे माता ! आज प्रातःकाल जातिस्मरण में मैंने अपने पूर्वभव देखे; अब मेरा चित्त सब ओर से विरक्त हुआ है, इसलिये आज ही इस असार-संसार को छोड़कर मैं मुनिदीक्षा अंगीकार करूँगा और शुद्धोपयोग द्वारा अपने निज परमात्मा को साधूँगा।

इधर तो राजकुमार के मुख से दीक्षा लेने के उद्गार निकल रहे थे कि उधर इन्द्रसभा में खलबली हुई; इन्द्र का इन्द्रासन डोल उठा; प्रभु के दीक्षाकल्याणक का अवसर जानकर देवगण वैशाली में आ पहुँचे। लौकान्तिक देवों ने आकर प्रभु की स्तुति की; वैराग्यभावना में निमग्न प्रभु ने दृष्टि उठाकर लौकान्तिक देवों की ओर देखा। उस समतारस झरते दृष्टिपात से देवगण अत्यन्त प्रमुदित हुए....एक ओर वैरागी तीर्थंकर तो दूसरी ओर वैरागी लौकान्तिक देव ! अहा, वैराग्यवान उत्तम साधकों का वह मिलन चैतन्य की परम गम्भीर शान्तियुक्त था। उस मिलन से परस्पर दोनों के वैराग्य की पुष्टि हुई।

प्रजाजन यह सब बड़े आश्चर्य से देख रहे थे। देवेन्द्रों ने प्रभु का दीक्षाकल्याणक मनाने हेतु प्रथम उनका दैवी श्वेत वस्त्रों से शृंगार किया। प्रभु का वह वस्त्रधारण करना अब अन्तिम था; अब वे पुनः कभी कोई वस्त्र धारण नहीं करेंगे। एक ओर देवों का शृंगाररस तो दूसरी ओर वैरागी प्रभु का शान्तरस; उत्कृष्ट शृंगार एवं उत्कृष्ट वैराग्य में मानों प्रतियोगिता हो रही थी। अन्त में शृंगाररस की पराजय और वैराग्यरस की विजय हुई। प्रभु तो रागमय वस्त्रादि शृंगार का परित्याग

करने तथा वीतरागी शान्तरस को अंगीकार करने हेतु वन में जाने को खड़े हो गये और उत्तम वैराग्यभावनाओं के चिन्तनपूर्वक 'चन्द्रप्रभा' नाम की शिविका में आरूढ़ हुए।

(यहाँ देवगति की अपेक्षा मनुष्यगति का तथा चारित्रदशा का महत्व बतलाने के लिये कोई कथाकार अलंकार से कहता है कि दीक्षा के अवसर पर प्रभु की पालकी उठाने हेतु देवों और मनुष्यों के बीच विवाद खड़ा हुआ कि पालकी पहले कौन उठाये ?)

देव बोले – हम स्वर्ग से प्रभु का दीक्षाकल्याणक मनाने आये हैं, इसलिये पालकी पहले हम उठायेंगे। जिसप्रकार जन्म कल्याणक के लिये हम प्रभु को मेरुपर्वत पर ले गये थे, उसी प्रकार दीक्षा के लिये वन में भी हम ले जायेंगे।

तब मनुष्यों की ओर से राजाओं ने कहा – अरे देवो ! हम मेरुपर्वत पर नहीं आ सके थे, किन्तु इस चारित्र के प्रसंग में तो हमारा ही अधिकार बनता है; क्योंकि प्रभु हमारे मनुष्यलोक के हैं, इसलिये प्रभु की चारित्रदशा के अवसर पर तो हम ही पालकी उठायेंगे....चारित्र में देवों का अधिकार नहीं है।

अन्त में इन्द्र ने झिझकते हुए प्रभु की ओर देखा कि इस विवाद में वे ही कोई मार्ग निकालें, ताकि देवों को भी कुछ अधिकार प्राप्त हो।

प्रभु महावीर बोले – चारित्र में जो मुझे साथ दे सकें, जो मेरे साथ चारित्रदशा अंगीकार कर सकें, वे पहले सात डग पालकी उठायें....और फिर दूसरे....

बस, हो गया निर्णय। यह बात सुनते ही इन्द्र निस्तेज हो गया; उसे अपना इन्द्र पद तुच्छ लगने लगा और पुकार कर कहने लगा कि अरे, कोई यह स्वर्ग का साम्राज्य लेकर मुझे बदले में एक क्षणभर का चारित्र दे दो। देखो, चारित्रदशा की महिमा ! हे सौधर्म देव ! तुम्हारे पास भले ही इन्द्र पद हो, परन्तु वह देकर भी एक क्षणभर का चारित्र तुम्हें नहीं मिल सकता। चारित्र दशा तो मनुष्यभव में ही प्राप्त होती है, इसलिए उसकी महिमा इन्द्र पद से भी अधिक है।

इस अलंकार कथन द्वारा पुराणकार ऐसा प्रगट करते हैं कि देवलोक की दिव्यता की अपेक्षा मनुष्यलोक का संयम महान है, **उस संयम के समक्ष इन्द्र को भी नतमस्तक होना पड़ता है।**

तथा मनुष्यों में भी, विद्याधर-मनुष्यों में तीर्थंकर उत्पन्न नहीं होते; भूमिगोचरी मनुष्यों में ही तीर्थंकर पैदा होते हैं, इसलिये प्रभु की पालकी उठाने का प्रथम अधिकार भूमिगोचरी राजाओं का ही है।

इसप्रकार पहले भूमिगोचरी राजा पालकी उठाकर सात डग भूमि पर चले, फिर सात डग तक विद्याधर राजा चले और तत्पश्चात् देव पालकी उठाकर आकाशमार्ग से चलने लगे। हजारों-लाखों नर-नारी वैराग्य भावना भाते हुए प्रभु के साथ वन की ओर चले।

गंगा नदी के पश्चिमी तट पर (पटना शहर के सामने वाले किनारे) वैशाली-कुण्डग्राम के 'नागखण्ड' नामक उपवन में शिविका से उतरकर प्रभु महावीर एक स्फटिक शिला पर विराजे। उत्तरमुख विराजमान वर्द्धमान कुमार ने 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर प्रथम सिद्धों को नमस्कार किया। इसप्रकार देहातीत सिद्धों को निकट लाकर प्रभु ने देह के आभूषण उतारे, वस्त्र भी एक-एक करके उतार दिये और सर्वथा दिगम्बर दशा धारण की। वर्द्धमान कुमार जितने दैवी वस्त्रों में शोभते थे उसकी अपेक्षा दिगम्बर दशा में मुनिराज महावीर अधिक सुशोभित होने लगे। रत्नत्रय द्वारा प्रभु सुशोभित हो उठे और प्रभु के आश्रय से रत्नत्रय शोभायमान हो गया। अरे, किन्तु प्रभु और रत्नत्रय भिन्न कहाँ थे। जो कि एक-दूसरे से सुशोभित होते ? प्रभु स्वयं रत्नत्रयरूप परिणमित थे। भेदवासना का विलय हो....अभेद आत्मानुभूति में लीनता हो।

अभेद आत्मानुभूति में लीन उन श्रमण महावीर को वन्दन हो !

वैशाली के नगरजन अपने प्रिय राजपुत्र को ऐसी वीतरागदशा में देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए....वे न तो हर्ष कर सके और न शोक ! **बस, मानों हर्ष-शोकरहित ऐसी वीतरागता ही करने योग्य है।** ऐसा उस कल्याणक प्रसंग का वातावरण था। हर्ष और शोक के बिना भी मोक्ष का महोत्सव मनाया जा सकता है – ऐसा प्रभु का यह दीक्षा कल्याणक महोत्सव घोषित करता था। उन चैतन्यवीर की वीतरागदशा देखकर धर्मीजनों के अन्तर में चारित्र की लहरें उछलती थीं।

मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के संध्याकाल स्वयं दीक्षित होकर महावीर मुनिराज तप धारण करके अप्रमत्तभाव से चैतन्यध्यान में लीन हो गये। अहा ! दो रत्न से

वृद्धिंगत होकर भगवान त्रिरत्नवन्त हुए; तीन ज्ञान से चार ज्ञानवन्त हुए; अनेक महान लब्धियाँ सेवा करने आ गईं। उनकी अतीन्द्रिय ज्ञानधारा तो केवलज्ञान के साथ केलि करने लगी। मानों केवलज्ञान ने उसी समय अपने ज्येष्ठ पुत्र समान मन:पर्ययज्ञान को भेजकर शीघ्र ही अपने आगमन की पूर्वसूचना दे दी। परन्तु प्रभु का लक्ष्य उस मन:पर्यय की ओर अथवा दिव्य लब्धियों की ओर नहीं था; वे तो अपने ज्ञायकस्वरूप की अनुभूति में ही ऐसे मग्न थे कि मानों सिद्धपद में विराज रहे हों। वाह! कैसी अद्भुत है उनकी शान्त ध्यानमुद्रा! प्रभु की ध्यानमुद्रा से प्रेरित होकर चारों ओर हजारों भव्यजीव भी चैतन्य का ध्यान धरने लगे हैं। अरे, ध्यानस्थ प्रभु की शान्तमुद्रा देखकर वन के सिंह, हाथी, हिरण, सर्पादि पशु भी मुग्ध होकर शान्ति से प्रभुचरणों में बैठ गये। अहा, 'जिनकी मुद्रा देखने से आत्मस्वरूप के दर्शन हों' – ऐसे उन ध्यानस्थ मुनिराज का क्या कहना! वह तो साक्षात् मोक्षतत्त्व ही बैठा है....।

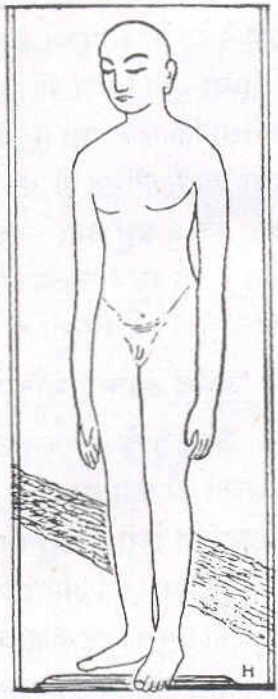

वैराग्य की प्रचण्ड बाढ़ से पूरी वैशाली घिर गई थी। हमारे लाड़ले राजकुमार तीस वर्ष हमारे साथ रहकर हमें सुख-समृद्धि दे गये....ज्ञान-वैराग्य दे गये.... अब वे हमें छोड़कर राग-द्वेष-काम-क्रोधादि को जीतने के लिये वन में चले गये। वे अवश्य विजेता बनेंगे। वे तो अपने शुद्धोपयोग में लीन होकर बैठे हैं; हमारी ओर देखने अथवा हमसे 'आओ' कहने के लिये दृष्टि भी नहीं उठाते – हमारे पाँव भी उन्हें वन में छोड़कर नगर में जाने के लिये नहीं उठते। राजवैभव के बिना भी परमवीतरागता से वे सुशोभित हो रहे हैं। सचमुच वीतरागता से ही सुख और शोभा है; बाह्य वैभव में न तो सुख है और न आत्मा की शोभा! ऐसा विचारते हुए हजारों-लाखों नगरजन वीर के वैराग्य की प्रशंसा करते थे।

उस समय महान विजेता वीर तो अपने एकत्व में झूल रहे थे।

अहा ! एक युवा राजपुत्र वीतराग होकर समस्त वस्त्राभूषण रहित दिगम्बर दशा में कैसे सुशोभित लगते होंगे ? अरे, सहज चैतन्यतत्त्व...उस पर कषाय की तथा वस्त्रादि की उपाधि कैसी ? शुद्धतत्त्व पर आवरण कैसा ? **वस्त्राच्छादित वीतरागता वस्त्रावरण हटाकर बाहर निकल आयी।** वीतरागता अपने ऊपर कोई आवरण नहीं सह सकती। जहाँ मोह का या राग का भी आवरण नहीं रुचता वहाँ बाह्य आवरण कैसे रुचेगा ? चार दीवारों का और वस्त्रों का आवरण तो विषयविकार के पाप को होता है; धर्म को आवरण कैसा ? वह तो सर्व बन्धनों को तोड़कर निर्ग्रन्थ होकर अपने मूल स्वरूप में विचरता है और सर्वत्र वीतरागता से सुशोभित होता है।

धन्य दिगम्बर मुनिदशा !

कोई जीव जिस वस्तु का त्याग करे उससे ऊँची वस्तु का ग्रहण करना यदि उसे आता हो, तभी वह उसका सच्चा त्याग कर सकता है। पुण्यराग का सच्चा त्याग वही कर सकता है, जिसे वीतरागभाव ग्रहण करना आता हो। त्याग लाभदायक होना चाहिये, हानिकारक नहीं। जीव जो त्यागे उसकी अपेक्षा उच्च वस्तु – उच्च भाव प्राप्त करे तभी उसका वह त्याग लाभदायी कहा जायेगा। भगवान महावीर का त्याग ऐसा था कि उन्होंने जिन हेय तत्त्वों को छोड़ा उनसे विशेष उपादेय तत्त्वों को ग्रहण किया। उनकी शुद्धता की श्रेणी का क्या कहना ! जब वे निर्विकल्पता के महान आनन्द में झूलते थे तब उनके शुद्धोपयोग की प्रचण्डता देखकर बेचारी शेष चारों संज्वलन कषायें भी इसप्रकार चुपचाप होकर छिप जाती थीं, कि वे जीवित हैं या मृत – यह जानना भी कठिन लगता था; क्योंकि उस समय उनकी कोई प्रवृत्ति दिखायी नहीं देती थी।

इसप्रकार एक ओर प्रभु महावीर शान्तभावरूप वीरता से कषायों को जीत रहे थे, दूसरी ओर त्रिशला माता भी वीर के वीतराग चारित्र का अनुमोदन करके अपने मोहबन्धन को ढ़ीला कर रही थीं। 'अरे रे, राजभवन में जिसका लालन-पालन हुआ है ऐसा मेरा पुत्र वन-जंगल में कैसे रहेगा ? और शीत-उष्णता कैसे सहन करेगा ? – ऐसी शंका वे नहीं करती थीं; वे जानती थीं कि आत्मसाधना में उनका पुत्र कैसा वीर है और उन्हें यह भी अनुभव था कि चैतन्य के आनन्द की लीनता में बाहर का लक्ष्य ही नहीं रहता। जहाँ शरीर का ही ममत्व नहीं रहता

वहाँ शीत-उष्णता के उपसर्ग कैसे ? अहा ! ऐसे अतीन्द्रिय चैतन्य तत्त्व को जाननेवाली माता क्या आत्मसाधना में आगे बढ़ते हुए पुत्र को देखकर मूर्च्छित होगी ?....नहीं, कदापि नहीं। अपने लाड़ले पुत्र को मोहपाश तोड़कर मुनिदशा में मग्न देखकर वे आनन्दित हुईं....और जब उसे केवलज्ञानी-अरिहन्त-परमात्मारूप में देखेंगी, तब तो अति आनन्दित होंगीं। धन्य माता ! तुम तो परमात्मा की माता हो....!'

बिना वर्द्धमान के वैशाली के राजप्रासाद सूने हो गये थे। बाह्य वैभव ज्यों के त्यों होने पर भी सुख रहित बिल्कुल निस्तेज लगते थे। – मानों वे पुद्गल-पिण्ड जगत से कह रहे थे कि 'देखो, हममें सुख नहीं है; इसीलिये तो वीर कुमार हमें छोड़कर तपोवन में चले गये और चैतन्य में लीन हो गये।' **परम वैराग्य जिसका प्रवेशद्वार है ऐसा चैतन्य का आनन्द-उद्यान सज्जन-सन्तों को अत्यन्त प्रिय है; धर्मात्मा उसमें क्रीड़ा करते हैं, पंचपरमेष्ठी का वहाँ निवास है।** शुद्धोपयोग का अमोघ चक्र लेकर वीरनाथ ने ज्यों ही ऐसे तपोवन में प्रवेश किया, त्यों ही मोह लुटेरा भयभीत होकर भाग खड़ा हुआ। निजवैभव की सेना सहित वीर योद्धा के आगमन से तपोवन सुशोभित हो उठा; सर्व गुणरूपी वृक्ष अपने-अपने मिष्टफलों से भर गये; अत्यन्त सुन्दर एवं परम शान्त उस चैतन्य-नन्दन वन के एकान्त स्थान (एकत्व चैतन्यधाम) में प्रभु महा-आनन्द अनुभवते थे। – ऐसा अद्भुत था वीर प्रभु का वनवास !

मुनिदशा में आत्मसाधना

मुनि होकर आत्मा की निर्विकल्प आनन्द दशा में झूलते-झूलते भगवान ने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर आत्मसाधना की। मात्र अपने एक स्वद्रव्य में ही उग्र तथा अन्य समस्त द्रव्यों से अत्यन्त निरपेक्ष, – ऐसी आत्मसाधना करते-करते महावीर प्रभु मोक्षमार्ग में विचर रहे हैं, और बिना बोले भी वीतराग मोक्षमार्ग का अर्थबोध करा रहे हैं। दीक्षा के पश्चात् दो दिन के उपवास हुए और तीसरे दिन कुलपाक नगरी के राजा श्रेयांस ने भक्ति पूर्वक आहारदान देकर वीरनाथ मुनिराज को पारणा कराया। आहारदान के प्रभाव से वहाँ देवों ने रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्रगट किये।

अहा ! तीर्थंकर के आत्मा जैसा सर्वोत्तम आश्चर्य जहाँ विद्यमान हो वहाँ जगत के अन्य छोटे-मोटे आश्चर्य आयें वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अत: मोक्ष की साधना में ही जिनका चित्त लगा है, ऐसे उन महात्मा को वे पाँच आश्चर्यकारी घटनाएँ किंचित् आश्चर्यचकित नहीं कर सकीं। अहा ! आश्चर्यकारी चैतन्यतत्त्व की साधना में लीन मुमुक्षु को जगत की कौनसी वस्तु आश्चर्य में डाल सकेगी ? उन मोक्षसाधक महात्मा का जितना वर्णन करें, उतना ही कम है।

हे भव्यजनो ! संक्षेप में समझ लो कि मोक्षसाधना हेतु जितने भी गुण आवश्यक हैं, उन सर्वगुणों का वहाँ संग्रह था और मोक्षसाधना में विघ्न करने वाले जितने भी दोष हैं उन समस्त दोषों को प्रभु ने छोड़ दिया था। धन्य प्रभु की मोक्ष साधना ! उनकी साधना ऐसी उग्र थी मानों वे स्वयं ही मोक्षतत्त्व थे।

उज्जयिनी में रुद्र का उपसर्ग और 'अतिवीर' नाम द्वारा स्तुति

अहा ! अनेक लब्धियाँ प्रगट होने पर भी, प्रतिक्षण स्वानुभूति द्वारा अनन्त आत्मलब्धियों का साक्षात्कार करते हुए उन वीतरागी साधक का अन्य किन्हीं लब्धियों के प्रति लक्ष्य ही नहीं था। विचरते-विचरते वे योगिराज उज्जयिनी नगरी में पधारे और क्षिप्रावती नदी के किनारे अतिमुक्तक नाम के भयानक श्मशान में ध्यान लगाकर खड़े हो गये। परमशान्त...अडोल...अहा, जीवन्त वीतराग-प्रतिमा ! वे प्रभु श्मशान में खड़े होने पर भी अपने आत्म-उद्यान में क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय इन्द्रसभा में धीर-वीर प्रभु की प्रशंसा होने से 'भव' नाम का एक इन्द्र-यक्ष उनकी परीक्षा करने आया। ('भव' नामक यक्ष अथवा 'स्थाणु' नामक रुद्र – ऐसे दोनों नाम पुराण में आते हैं।)

ध्यानस्थ प्रभु के सर्व प्रदेशों में ऐसी परमशान्ति व्याप्त हो गई है कि वन के हिंसक पशु भी वहीं शान्त होकर बैठ गये। अद्भुत है उनकी धीरता...और अद्वितीय है उनकी वीरता ! वहाँ यक्ष ने आकर भयंकर रौद्ररूप धारण किया; सिंह, अजगर आदि की विक्रिया द्वारा उपद्रव करके प्रभु को ध्यान से डिगाने का प्रयत्न किया; पत्थर बरसाये, अग्नि के गोले फेंके; परन्तु वे सब प्रभु से दूर ही रहे....तीर्थंकरों का ऐसा ही अतिशय है कि उनके शरीर पर सीधा उपद्रव नहीं होता। उन्हें काँटे नहीं लगते, सर्प नहीं डस पाते, कोई प्रहार नहीं कर सकता। अहा ! जिनकी चेतना अन्तर्मुख है ऐसे वीर मुनिराज को बाह्य उपद्रव कैसे ? वीतरागी आराधना में वर्तते

हुए मुनि भगवन्तों पर उपद्रव करने या उन्हें आराधना से विचलित करने का सामर्थ्य विश्व में किसी का नहीं है।

अरे पामर यक्ष ! अरे दुष्ट रुद्र !! तू इन वीतरागी मुनि पर क्या उपसर्ग करेगा ? तेरे अपने ही ऊपर भयंकर क्रोध का उपसर्ग हो रहा है और उससे तू महा दु:खी है। भवदु:ख से छूटने के लिये तू प्रभु की शरण में आ....और अपने आत्मा पर होते हुए भयंकर उपद्रव को शान्त कर !

दुष्ट यक्ष अनेक उपसर्गों की चेष्टाएँ कर-करके थक गया, परन्तु महावीर मुनिराज अपनी वीरता से विचलित नहीं हुए। अरे, शान्ति के वेदन में थकावट कैसी ? थकावट तो कषाय में है। 'शान्ति' कभी परास्त नहीं होगी, 'क्रोध' क्षण में परास्त हो जायेगा। अन्त में वह भव-रुद्र मोक्ष के साधक पर उपसर्ग कर-करके थक गया....हार गया। 'वि-भव' ऐसे भगवान के समक्ष 'भव' कैसे टिक पाता। भवरहित ऐसे मोक्ष के साधक महावीर के सामने 'भव' हार गया। शान्तभाव के समक्ष रुद्रभाव नहीं टिक सका। अन्त में थककर उसने अपनी विचारधारा बदली कि अरे, इतना सब करने पर भी यह वीर मुनिराज तो ध्यान से किंचित् चलायमान नहीं हुए और मेरे प्रति किंचित् भी क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ... मानों कुछ भी नहीं हुआ हो, इसप्रकार वे अपनी शान्ति में ही लीन हैं। वाह प्रभो ! धन्य है तुम्हारी वीरता ! सचमुच तुम मात्र 'वीर' नहीं, किन्तु अतिवीर हो। इसप्रकार 'अतिवीर' सम्बोधनपूर्वक वह यक्ष प्रभुचरणों में झुककर स्तुति करने लगा –

'धन्य धन्य अतिवीर ! मोक्ष के सच्चे साधक !'

'महावीर पर आया हुआ उपसर्ग दूर हो गया ?' नहीं, उन पर तो उपसर्ग था ही नहीं, उपसर्ग तो यक्ष पर था, दूर हो गया; महान क्रोध और पाप के उपसर्ग से छूटकर वह यक्ष शान्ति को प्राप्त हुआ। अहा, शान्ति के अमोघ शस्त्र के सामने भगवान के विरोधी भी स्वयं वश में होकर झुक जाते थे। **वास्तव में 'शान्ति' ही मुमुक्षु की विजय के लिये परम अहिंसक और सर्वोत्कृष्ट शस्त्र है, जो कदापि निष्फल नहीं जाता।**

यक्षदेव अथवा भव-रुद द्वारा **'अतिवीर'** ऐसे मंगल नामकरण द्वारा प्रभु का सन्मान करने से परमेष्ठी पद में विराजमान प्रभु पाँच मंगल नामधारी हुए – **'वीर'** नाम जन्माभिषेक के समय इन्द्र ने दिया, **'वर्द्धमान'** नाम माता-पिता ने दिया;

'**सन्मतिनाथ**' नाम मुनिवरों ने दिया; '**महावीर**' नाम संगमदेव ने दिया, और '**अतिवीर**' नाम रुद्र ने दिया। प्रभु के सान्निध्य में रुद्र रौद्रता छोड़कर पुनः धर्म में स्थित हुआ और क्षमायाचना पूर्वक स्तुति की –

श्री वीर महा अतिवीर सन्मतिनायक हो।
जय वर्द्धमान गुणधीर सन्मति दायक हो॥

पंच-मंगल नामधारी प्रभु का चित्त तो पंचमगति की साधना हेतु पंचमभाव में ही लगा था। अहा, बचपन में भी जिनके अद्भुत शौर्य के समक्ष सर्प भी शरण में आ गया था तो मुनिदशा में विद्यमान उन तीर्थंकर देव की परम शान्त गम्भीर मुद्रा के समक्ष चण्डकोश जैसे विषधर नाग भी सहम जायें, उसमें क्या आश्चर्य है ? वीरनाथ की वीतरागी शान्ति के समक्ष चण्डकोश का प्रचण्ड आक्रोश कैसे टिक सकता था ? अरे, सामान्य लब्धिधारी मुनिराज के समक्ष भी जब क्रूर पशु अपनी क्रूरता को छोड़कर शान्त हो जाते हैं, तब फिर यह तो तीर्थंकर-मुनिराज वर्द्धमान हैं, उनकी आश्चर्यजनक लब्धियों एवं शान्ति के प्रभाव की तो बात ही क्या ?

जिनके पास क्रूर से क्रूर जीव भी ऐसे शान्त हो जाते हैं कि दूसरे जीवों का घात भी नहीं करते, सिंह हिरन को नहीं मारता, नेवला सर्प को नहीं छेड़ता, तो फिर उन्हें स्वयं को सर्प डसे या कोई कानों में कीलें ठोक दे – यह बात ही कहाँ रही ? दूसरों की बात और है, परन्तु यह तो तीर्थंकर महात्मा हैं, उनके ऐसा कुयोग कभी नहीं बनता। जैनधर्म का कर्म सिद्धान्त भी ऐसे अशुभ कर्मों का उदय स्वीकार नहीं करता है; जैनधर्म की विशेषता तो यह है कि प्रभु की सच्ची पहिचान उनके चेतनभावों द्वारा ही होती है, उदयभावों द्वारा नहीं।

जान लो, इस महावीर जीवन को ! और प्राप्त कर लो सम्यक्त्व

एकाकी विचरते हुए जिनकल्पी तीर्थंकर मुनिराज महावीर एकमात्र निजस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में परिणमते थे। वे जानते थे कि वर्तमान में यह मेरा आत्मा स्वयं अकेला ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभाव रूप होता हुआ अपने मोक्ष का कर्ता होता है और भूतकाल में जब सम्यक्त्वादि रूप परिणमित न होकर, अज्ञान से उन मिथ्यात्वादि भावोंरूप परिणमित होता था तब भी वह स्वयं ही अपने संसार का कर्ता होता था। इसप्रकार संसार और मोक्ष दोनों

भावों में अपना स्वाधीन-कर्तृत्व जानकर, उन्होंने पर के साथ एकत्व का अध्यास छोड़ दिया था और अपने आत्मा के एकत्व का अनुभव करते हुए स्वाधीनरूप से अपने मोक्ष के ही कर्ता होते थे।

भेदज्ञान द्वारा मोक्षमार्ग में प्रविष्ट वे मुमुक्षु-महात्मा ऐसा जानते थे कि–

''जब मैं संसारी था, अज्ञानी था, तब भी वास्तव में मेरा कोई भी नहीं था; तब भी मैं अकेला ही अपने मलिन चैतन्यभाव द्वारा कर्ता-करणादि होकर स्वभावसुख से विपरीत ऐसे दुःखफल को उत्पन्न करता था, उसमें दूसरा कोई मेरा सम्बन्धी नहीं था और अब, साधकदशा में जिसे सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं एकान्त से मुमुक्षु हूँ; वर्तमान में इस मुमुक्षु-साधक-ज्ञानदशा में भी मैं अकेला ही अपने सुविशुद्ध चैतन्यभाव द्वारा कर्ता-करणादि होकर, मैं अकेला ही अपने स्वभाव द्वारा अनाकुल सुख उत्पन्न करता हूँ। इस समय भी वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है और मोक्ष में भी मैं अकेला ही सादि-अनन्तकाल अपने एकत्व स्वरूप में रहकर अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जिऊँगा।''

इसप्रकार बंधमार्ग में या मोक्षमार्ग में, दुःख में या सुख में, संसार में या मोक्ष में आत्मा अकेला ही है – ऐसे आत्मा के एकत्व को जानकर, उस एकत्व की भावना में तत्पर रहने वाले प्रभु को परद्रव्य का किंचित् भी सम्पर्क न रहने से शुद्धता थी, तथा कर्ता-कर्म-करण-फल इन समस्त भावों को एक अभेद आत्मारूप अनुभवते, भाते होने से पर्यायों द्वारा खण्डित नहीं होते थे, इसलिये सुविशुद्ध ही रहते थे; आत्मा की पर्यायों को आत्मद्रव्य में ही प्रलीन करके सुविशुद्ध आत्मा को उपलब्ध करते थे। इसप्रकार अपने आत्मा को पर से विभक्त करके सुविशुद्ध आत्मा को उपलब्ध करते थे। उन्होंने अपने आत्मा को पर से विभक्त करके स्वतत्त्व के एकत्व में लगाया – वही शुद्धनय है, वही शुद्धात्मा की उपलब्धि है, वही निर्वाण का मार्ग है, वही महा अतीन्द्रिय सुख है तथा वही महावीर का जीवन है।

अहो ! ऐसा स्वभावरूप परिणमित चैतन्यतत्त्व जगत में सर्वोत्कृष्ट सुन्दर वस्तु है। चैतन्यतत्त्व की सुन्दरता जहाँ अनुभव में आती है वहाँ जगत का अन्य कोई पदार्थ सुन्दर नहीं लगता, कहीं सुखबुद्धि नहीं होती, सर्वत्र उदासीनवृत्ति रहती है। – ऐसी शान्त सहज दशा स्वयं आनन्दरूप है और उसमें वीरनाथ प्रभु

का साक्षात्कार है... अनन्त सिद्धों का साक्षात्कार है...आत्मा का साक्षात्कार है...धन्य है वह दशा !

अहा ! शुद्धज्ञान स्वरूप के अनुभव से भरा हुआ महावीर का जीवन कितना सुन्दर है, वह सदा वर्द्धमान है – आत्मसाधना में वृद्धिस्वरूप है। न ललचाये वे संसार के किसी वैभव से और ना ही डरे वे जगत की किसी प्रतिकूलता से। हाँ, वे ललचाये अवश्य – चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में; और डरे इस असार-संसार में भवभ्रमण से...तथापि वे वीर थे; सामान्य वीर नहीं किन्तु महावीर थे। आत्मा की वीतरागी वीरता द्वारा कषाय शत्रुओं को जीतने वाले वे 'विजेता' थे, जिन थे। केवलज्ञान प्राप्त करके जब वे धर्म गर्जना करेंगे, तब उनकी हुँकार सुनकर गौतम इन्द्रभूति और श्रेणिक जैसे अनेक भव्यात्मा चौंक उठेंगे।

अहा ! उन वीर योगिराज की वीतरागी वीरता के सामने बड़े-बड़े सम्राटों का मस्तक भी झुक जाता था। उनकी वीरता किसी दूसरे को दुःख देने के लिये नहीं थी, वह वीरता तो अहिंसक थी....निर्विकार थी। **जगत में तो वीर योद्धा कहलाने वाले अनेक जीव सुन्दर स्त्रियों के कटाक्ष मात्र से विह्वल होकर पराजित हो जाते हैं, अथवा अपमान के एक कटु शब्द का प्रहार होते ही क्रोधित होकर हारकर क्षमाभाव को खो बैठते हैं।** वाह, तुम्हारी वीरता ! देख ली तुम्हारी बहादुरी !! ऐसे तुच्छ आक्रमण से ही रो पड़े...तब मोह के सामने महायुद्ध में कैसे खड़े रहोगे ? अरे, मोह से लड़ना और मोक्ष का राज्य प्राप्त करना वह तो वीतरागी वीरों का काम है...कायरों का नहीं। – ऐसी वीरता देखना हो तो देख लो, **सामने खड़े हुए इन महावीर को** ! वे इसी समय उग्र पराक्रम पूर्वक मोह से लड़कर, उसका सर्वनाश करके (सत्तानाश-सत्यानाश करके) अपनी क्षायिक विभूति से भरपूर केवलज्ञान-साम्राज्य जीत लेंगे। धन्य है उनकी वीरता।

आत्मा के सहज स्वरूप को धारण करने वाले वे मुमुक्षु वीर जानते थे कि मैं किसी दूसरे का नहीं हूँ और जगत में अपने चैतन्य के सिवा दूसरा कुछ भी मेरा नहीं है। अपने आत्मीय चैतन्य स्वरूप शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण और शुद्ध पर्याय, वह मेरा स्व है। मैं अपने शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायरूप स्ववस्तु में ही निवास करता हूँ, वह मेरा स्वकीय परिवार है; उसी का मैं स्वामी हूँ और वही मेरा स्व है। इसप्रकार शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय में अपने को तन्मय अनुभवते हुए वे वन-जंगल के बीच

कहीं एकाकी नहीं थे, किन्तु अपने गुण-पर्याय के अनन्त परिवार सहित थे। और फिर भी उनकी अनुभूति में द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद भी नहीं थे, एकत्व था। बस, ऐसी एकत्व-अनुभूति ही मोक्ष का पंथ....वही महावीर का जीवन....और वही महावीर का स्वरूप था।

महावीर के ऐसे स्वरूप को जानने से मुमुक्षु के अन्तर से प्रतिध्वनि उठती है कि हे जीव ! अनन्त काल से संसार की चार गतियों में भ्रमण करते हुए भी जो सुख तुझे कहीं प्राप्त नहीं हुआ, उस अद्भुत अनुपम सुख का तुझे चैतन्य की अनुभूति में बहुल वेदन होगा....क्योंकि आत्मा स्वयं अद्भुत सुख का भण्डार है। उसे प्रत्यक्ष देखना हो तो इन महावीर को देखो !

'आत्मा चैतन्यसत्ता है। जो भी चैतन्यमय गुण-पर्यायें हैं उनसे भिन्न आत्म सत्ता नहीं है, एक ही सत्त्व है। स्वानुभूति के समय गुण-पर्यायों का विकल्प छूट जाने से वे-वे गुण-पर्यायें कहीं आत्मा से भिन्न नहीं हो जाते; अनुभूति स्वरूप आत्मा में द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद मिटकर, तीनों स्वरूप से अभेद एक ज्ञायक स्वरूप प्रगट अनुभव में आता है, ऐसा अद्भुत अनेकान्त स्वरूप आत्मतत्त्व है।' – ऐसे अद्भुत आत्मतत्त्व को महावीर प्रभु प्रकाशित कर रहे हैं। ''वन्दन हो उन वीर प्रभु को !''

ऐसी मुनिदशा में झूलते हुए प्रभु महावीर उल्लसित आत्म-आराधना सहित विहार करते हुए भारतभूमि को पावन कर रहे हैं। केवलज्ञान की साधना करते-करते एक वर्ष...दो वर्ष...चार वर्ष...आठ वर्ष....इसप्रकार वर्षों पर वर्ष बीत रहे हैं और केवलज्ञान दिन-प्रतिदिन निकट आता जा रहा है। एकबार उन्होंने ऐसा उग्र अभिग्रह धारण किया कि दासी के वेश में सिर मुँडाये हुए, कोई सती-राजकुमारी आहार देगी तभी आहार लूँगा; साथ में अन्य भी अनेक अभिग्रह थे। ऐसे अभिग्रह सहित विचरते-विचरते दिवसों पर दिवस बीत रहे हैं, परन्तु अभिग्रह कहीं पूर्ण नहीं होता और बिना आहार के महीनों बीत चुके हैं....तथापि वीर मुनिराज के मन में किसी प्रकार की आकुलता नहीं है, सुस्वादु आहार मिले या उपवास हो – दोनों में समभाव है। प्रभु का आहार न होने से नगरवासी चिन्ता में हैं....इसप्रकार बिना आहार के पाँच मास बीत गये।

''**विचरूँ उदयाधीन किन्तु निर्लोभ मैं....**'' ऐसी स्थिति में विचरते हुए

वीरनाथ मुनि कौशाम्बी नगरी में पधारे। सारे नगर में एक ही चर्चा हो रही है कि वीर मुनिराज प्रतिदिन नगर में आहार हेतु पधारते हैं, किन्तु आहार हो नहीं पाता ! उन्होंने ऐसा कौन-सा अभिग्रह धारण किया होगा ? कौन होगा वह सौभाग्यशाली जिसे मुनिराज के आहारदान का महान लाभ प्राप्त होगा ?....अहा, वह मनुष्य बड़ा भाग्यवान होगा, जिसके घर पौने दो सौ दिवस के उपवास पश्चात् प्रभु का पारणा होगा !

चन्दना के जीवन की चमत्कारी घटनाएँ

इधर महावीर की मौसी चन्दनबाला कि, जिसने वीरकुमार के निकट सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था, वह भी महावीर की भाँति विवाह न करने का निश्चय करके वैराग्य आत्मभावना में जीवन व्यतीत करती थी। एकबार चन्दना कुमारी अपनी सहेलियों के साथ नगर के बाहर उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी कि उसके लावण्यमय यौवन से आकर्षित होकर एक विद्याधर ने उसका अपहरण कर लिया; परन्तु बाद में अपनी पत्नी के भय से उसने चन्दना को कौशाम्बी के वन में छोड़ दिया। कहाँ वैशाली और कहाँ कौशाम्बी ! वन के भील सरदार ने उसे पकड़ लिया और एक वेश्या को सौंप दिया। एक के बाद एक होनेवाली इन घटनाओं से चन्दना व्याकुल हो गई कि अरे, यह क्या हो रहा है ?

....ऐसी अद्भुत सुन्दरी को देखकर वेश्या विचारने लगी कि कौशाम्बी के नागरिकों ने ऐसी रूपवती स्त्री कभी देखी नहीं है। इसे रूप के बाजार में बेचकर मैं अच्छा धन कमाऊँगी। – ऐसा सोचकर वह सती चन्दनबाला को वेश्याओं के बाजार में बेचने ले गई। अरे रे ! इस संसार में पुण्य-पाप की कैसी विचित्रता है कि एक सती नारी वेश्या के हाथों बिक रही है ! (किन्तु पाठको ! तुम घबराना नहीं....क्योंकि ऐसे पुण्य-पाप के उदय में भी आत्मा को उनसे भिन्न रख सके ऐसी ज्ञानचेतना, प्रभुवीर के प्रताप से चन्दना के पास विद्यमान है। चन्दना की उस चेतना को जानने का तुम प्रयत्न करना।)

जहाँ की महारानी मृगावती स्वयं चन्दनबाला की बहिन है, उस कौशाम्बी के वेश्या बाजार में महावीर की मौसी एक दासी के रूप में बिक रही है !

वेश्या आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रही है कि कोई बड़ा ग्राहक आये तो उसे

बेचकर धन कमा लूँ। इतने में एक बड़े सज्जन सेठ वहाँ से निकले। बाजार में खड़ी हुई चन्दना का रूप देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। अरे, राजकुमारी समान यह कन्या यहाँ कैसे आ गई होगी ? जो दासी के रूप में बेची जा रही है। संकटग्रस्त होने पर भी आत्मतेज-सम्पन्न उसकी मुखमुद्रा से सेठ को ऐसा लगा कि यह अवश्य कोई संस्कारी कुलवान कन्या है; इसके मुख पर किंचित् विषय-लालसा नहीं है। फिर भी बीच बाजार में वेश्या के रूप में बिक रही है.... अवश्य ही इसमें कोई रहस्य होना चाहिये। इस कन्या को मैं इस संकट से बचा लूँ ताकि यह किन्हीं दुष्टों के चंगुल में न फँस जाए – ऐसा विचार करके सेठ उसके पास गये और पूछताछ करने लगे।

उन सज्जन सेठ को वहाँ देखकर नगरजनों के आश्चर्य का पार नहीं रहा !....अरे, नगर के यह महान श्रावक धर्मात्मा सेठ वृषभदत्त भी इसके सौन्दर्य पर मोहित हो गये, 'किन्तु यह असम्भव है !'....तो फिर किसलिये वे यहाँ आकर बात कर रहे हैं ? इसप्रकार लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार का कौतुहल फैल गया। सेठ वृषभदत्त निकट आकर चन्दना को देखने लगे। वह धीमे-धीमे कुछ बोल रही थी....उसके मुँह से निकलते हुए शब्द सुनकर सेठ एकदम चौंक पड़े....अरिहन्त....अरिहन्त....। अरे, यह तो 'णमोकार' मंत्र जप रही है....अवश्य ही यह कोई उच्च संस्कारी जैन कन्या है, जो ऐसे घोर संकट के समय नमस्कार मंत्र का जाप कर रही है। धन्य है इसे !....मेरे कोई सन्तान नहीं है, मैं इसे घर ले जाऊँगा और अपनी पुत्री के रूप में पालन करूँगा। ऐसा सोचकर सेठ ने उसे खरीद लेने का निश्चय किया और वेश्या को मुँहमांगी स्वर्ण मुद्राएँ देकर चन्दना को ले लिया। धन्य है उनका धर्म वात्सल्य।

घर में प्रवेश करते ही सेठ ने कहा – पुत्री ! तुम किसी उच्च कुल की कन्या हो; तुम्हारी प्रत्येक चेष्टा, तुम्हारे निर्विकारी नेत्र और तुम्हारे वस्त्र, – यह सब तुम्हारी कुलीनता का परिचय देते हैं। बेटी, तुम निर्भय होकर रहो। मैं जिन-तीर्थंकर देव का अनुयायी जैन श्रावक हूँ....आज से तुम मेरी धर्मपुत्री हो और मैं तुम्हारा धर्मपिता।

दासी के रूप में बिक कर भी स्वयं एक सज्जन जैन श्रावक के घर में आ गई है, यह जानकर चन्दना को सन्तोष हुआ; उसे इतनी प्रसन्नता हुई मानों वह महावीर

की मंगल छाया में ही आ गई हो !....उसका हृदय पुकार उठा – **'जैनधर्म से रहित चक्रवर्ती पद भी अच्छा नहीं है; भले ही दासीपना हो परन्तु जैनधर्म में वास हो तो वह भी अच्छा है;** – ऐसी कठिन परिस्थिति में भी उसे वीरकुमार के साथ हुई धर्मचर्चा का स्मरण हुआ और वह अपूर्व क्षण याद आया, जब उसने वीरकुमार के मार्गदर्शन में स्वयं निर्विकल्प आत्मानुभूति पूर्वक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। अनुकूल या प्रतिकूल प्रसंगों में घिर जाने से आत्मा को भूल जाये वह ऐसी कोई साधारण स्त्री नहीं है, वह तो चैतन्यतत्त्व की ज्ञाता, मोक्ष की साधक है। ऐसी प्रतिकूलता में भी ज्ञानचेतना किंचित् चिगती नहीं है, पृथक् की पृथक् ही रहती है। राजपुत्रीपना या दासीपना, सत्कार या तिरस्कार, इन सबसे चन्दना के चैतन्य की प्रभा भिन्न की भिन्न रहती है। वाह चन्दना !....धन्य है तुम्हारी चैतन्यप्रभा !

'वाह रे उदय ! एक मुमुक्षु धर्मात्मा राजकुमारी वर्तमान में दासी बनकर पराये घर में निवास कर रही है। सेठ-सेठानी को पता नहीं है कि यह दासी कौन है ? अरे, यह दासी तो जगत् के परमेश्वर की मौसी है, धर्म का एक रत्न है, भारत के श्राविका संघ की शिरोमणि है और कौशाम्बी नगरी की महारानी मृगावती की लाड़ली बहिन है ! जो वर्तमान में कर्मोदयवश दासी बनी हुई है; तथापि पुण्य का ऐसा कोई योग है कि दासीपना भी सेठ वृषभदत्त जैसे एक सज्जन-धर्मात्मा के घर में मिला है....जहाँ शीलधर्म की रक्षा सुगम है।

परन्तु अरे उदय ! चन्दना के सौन्दर्य को देखकर सेठानी को सन्देह हुआ कि मेरी कोई संतान न होने से सेठ अवश्य मुझे छोड़कर इस चन्दना को मेरी सौत बनाएँगे ! नहीं तो इस घर में दास-दासियों की क्या कमी थी ? जो इसे ले आये। सती चन्दना सबकुछ जानते हुए भी धैर्यपूर्वक सहन करती है; सेठानी के प्रति हृदय में द्वेषभाव भी नहीं आने देती। वीरनाथ के बतलाये हुए चैतन्यतत्त्व का विचार करने से दासीपने के दु:ख का विस्मरण हो जाता है। वह संसार से विरक्त होकर चिन्तन करती है कि मैं तो चैतन्य की महान स्वाधीन विभूति से भरपूर हूँ, यह सब तो पूर्व कर्मों से छूटने की चेष्टा है। प्रभु महावीर के प्रताप से मेरी ज्ञानचेतना अब कर्मों से पृथक् रहकर मोक्षमार्ग को साधती रहती है...।

एक दिन सेठ वृषभदत्त बाहर से थके हुए घर आये। सेठानी कहीं बाहर गई

थी, कोई नौकर-चाकर भी घर में नहीं थे; इसलिये सदा की भाँति चन्दना पानी ले आयी और पितातुल्य सेठजी के पाँव धोने लगी। पाँव धोते-धोते उसके कोमल केशों का जूड़ा खुल गया और केश धूलधूसरित होने लगे; इसलिये सेठ ने निर्दोषभाव से वात्सल्यपूर्वक पुत्री के केश हाथ से ऊपर उठा लिये। ठीक उसी समय सुभद्रा सेठानी आ पहुँची और चन्दना के खुबसूरत केशों को सेठ के हाथ में देखकर क्रोध से आग बबूला हो गई, उसे लगा कि मेरी अनुपस्थिति में ये दोनों एक-दूसरे से प्रेमालाप कर रहे थे। बस, उसकी शंका निर्णय में बदल गई और उसने निश्चय कर लिया कि किसी भी प्रकार चन्दना को घर से निकालना है....रे दैव ! तेरे भण्डार में क्या-क्या भरा है?

जिज्ञासु पाठको ! तुम निराश मत होना। कर्मोदय की तथा धर्मी जीव के परिणामों की विचित्रता देखो ! यह कर्मोदय भी चन्दना के लिये वरदानरूप बन जाता है....वह तुम कुछ ही समय में देखोगे। कर्मोदय से व्याकुल हो जाना वह धर्मी जीवों का काम नहीं है;....उस समय भी अपनी धर्मसाधना में आगे बढ़ते रहना ही धर्मात्माओं की पहिचान है। वे जानते हैं कि –

जो कर्म के ही विविध उदय विपाक जिनवर ने कहे,
वे मम स्वभाव नहीं तथा मैं एक ज्ञायक भाव हूँ।
सब जीव में समता मुझे नहिं बैर किसी के संग मुझे,
इसलिए आशा छोड़कर मैं करूँ प्राप्ति समाधि की।।

अब सुभद्रा सेठानी भयंकर वैरबुद्धि से चन्दना को अपमानित करने तथा बदला लेने को तत्पर है। एक दिन जब सेठ नगर से बाहर गये हुए थे, तब सेठानी ने चन्दना को एकान्त में बुलाकर उसके सुन्दर केश काटकर सिर मुँडवा दिया। अरे, अत्यन्त रूपवती राजपुत्री को कुरूप बना देने का प्रयत्न किया....इतने से उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ तो चन्दना के हाथ-पाँव में बेड़ियाँ डालकर उसे एक अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दिया; ऊपर से तरह-तरह के कटु वचन कहे; भोजन में भी प्रतिदिन सुबह-सुबह मात्र उबले हुए उड़द और गरम पानी दिया। अरे, सिर मुँडवाकर जिसे बेड़ी पहिना दी गई हो उस सुकोमल निर्दोष स्वानुभवी राजकुमारी का उस समय क्या हाल होगा ? आँखों से आँसू बह रहे हैं; मन में वीरनाथ प्रभु का स्मरण होता है। उसे विश्वास है कि मेरे महावीर मुझे संकट से उबारने अवश्य आयेंगे....जिन महावीर ने मुझे सम्यक्त्व देकर भव बन्धन से मुक्त किया है, वे

ही प्रभु मुझे दर्शन देकर इन बेड़ियों से भी छुड़ायेंगे। इसप्रकार वीर प्रभु के स्मरण में लीन होकर वह भूख-प्यास को भी भूल जाती थी,....क्षणभर तो उसका आत्मा मुक्तरूप से किसी देहातीत अगम्यभाव में निमग्न हो जाता था।

ऐसी स्थिति में एक दिन बीता....रात बीती....दूसरा दिन भी बीत गया....सेठ वृषभदत्त नहीं आये ! तीसरा दिन बीत गया....तब भी सेठ जी नहीं आये....चन्दना को तीन दिन के उपवास हो गये....तीन दिन तक कोठरी में बन्द और बेड़ियों में जकड़ी हुई वह राजकुमारी आहार-जल के बिना एकाकी पड़ी है और कड़वे-मीठे संस्मरणों में खो गई है, प्रतिक्षण प्रभु महावीर का स्मरण करते हुए सम्यक्त्व का मधुर स्वाद ले-लेकर जी रही है। सोच रही है कि या तो अब प्रभु के दर्शन हों या समाधिमरण....।

इसप्रकार विचार करते-करते तथा प्रभु के दर्शनों की भावना भाते-भाते तीन दिन बीत गये....चौथे दिन प्रातःकाल सेठ आ गये। घर का वातावरण कुछ सूना-सूना बेचैन-सा लग रहा था; चन्दना कहीं दिखायी नहीं दी; इसलिये बुलाया, 'चन्दना....बेटी चन्दना ! किन्तु कहीं से उत्तर न पाकर सेठ चिन्ता में पड़ गये; उनके मन में तरह-तरह की शंकाएँ होने लगीं....अरे, चन्दना कहाँ गई ? वह निर्दोष कन्या कोई अशुभ कार्य तो कर नहीं सकती। मुझसे या सुभद्रा से पूछे बिना वह कहीं जा भी नहीं सकती।....तो फिर हुआ क्या? कहाँ गई वह ?.... सेठानी से पूछा तो कहती है – मैं कुछ नहीं जानती, दास-दासियों को भी कुछ पता नहीं; वे कुछ बोलते भी नहीं हैं....सेठ व्याकुल हो गये। प्राणों से भी प्रिय पुत्री कहाँ गई ? अन्त में उदास होकर एक वृद्ध दासी से पूछा – बहिन, तुम्हें मालूम है चन्दना कहाँ है ? तुम सब उदास क्यों हो ? कुछ बोलते क्यों नहीं ? दासी ने कोई उत्तर तो नहीं दिया, परन्तु सेठ की ओर देखकर सिसकने लगी। उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे....एक गहरा निःश्वास छोड़कर कोठरी की ओर संकेत करके वह चली गई।

सेठ ने तुरन्त कोठरी की खिड़की के पास जाकर देखा तो भीतर चन्दना दिखाई दी....बाहर से ताला लगा हुआ था। चन्दना का मुँडा हुआ सिर और हाथ-पाँव में पड़ी हुई बेड़ियों को देखकर सेठ से रहा नहीं गया....वे करुण चीत्कार कर उठे – अरे बेटी चन्दना ! तेरी यह दशा ! और फिर भी मुँह से आह तक नहीं करती ? अरे, किस दुष्ट ने तेरी यह दशा की है ?

चन्दना कुछ बोली नहीं, मात्र स्नेहपूर्ण नेत्रों से सेठ की ओर देखती रही....मानों उसके अमृत झरते नेत्र उनसे शान्त भाव रखने को कह रहे हों।

सेठ ने तुरन्त कोठरी का द्वार खोला और बेड़ियाँ काटने के लिये स्वयं ही लुहार को बुलाने दौड़े।

सेठजी के आने से तीन दिन की उपवासी चन्दना विचारने लगी – यदि महावीर प्रभु पधारें तो मैं उन्हें आहार देकर ही पारणा करूँगी। – ऐसी अन्तरंग भावना भा रही है। **और यदि जीव की भावना सच्ची हो तो उसका फल भी मिले बिना नहीं रहता**....यदि जीव को भावना का फल न मिले तो सारा जगत शून्य हो जाए। जिसे आत्मा की भावना हो उसे आत्मा की प्राप्ति होती ही है। सच्ची आत्म भावना भाने वाले को यदि आत्मसुख की प्राप्ति न हो तो आत्मतत्त्व ही शून्य हो जाए, उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो। यदि पापी जीव के पापभाव का फल न हो तो नरकगति ही शून्य हो जाए; जीव के पुण्यभाव का फल न हो तो जगत में देवगति ही शून्य हो जाए; जीव के रत्नत्रयभाव का फल न हो तो सिद्धगति ही शून्य हो जाए। इसप्रकार यदि जीव के शुभ-अशुभ या शुद्ध भावों का फल न हो तो संसार की चार गतियाँ अथवा सिद्धगति ही नहीं रहेगी और तब जगत को शून्य हो जाना पड़ेगा; किन्तु नहीं, **सच्ची भावना का सच्चा फल आता ही है....भावना फलित हुए बिना नहीं रहती।** देखो, इधर चन्दना उत्तम भावनाएँ भा रही हैं....कि वीर प्रभु पधारें....तो आहारदान दूँ...ठीक उसी समय – **प्रभु महावीर पधारे।**

पाँच मास और पच्चीस दिन के उपवासी प्रभु महावीर आहार हेतु नगर में पधारे हैं। उनका शरीर दुर्बल नहीं हुआ, उनकी मुद्रा निस्तेज नहीं हुई; उलटी तप के दिव्य तेज से चमक रही हैं; उनके चैतन्य का प्रतपन अनोखा है ! ऐसे प्रभु वीर मुनिराज वृषभदत्त सेठ के घर की ओर आ रहे हैं....चन्दना ने दूर से प्रभु को अपने घर की ओर आते देखा तो उसका रोम-रोम, प्रदेश-प्रदेश हर्षातिरेक से....भक्ति से तथा आश्चर्य से पुलकित हो उठा.... 'पधारो प्रभु पधारो !' प्रभु निकट आये और हर्षविभोर चन्दना प्रभु को सत्कारने के लिये आगे बढ़ी....आश्चर्य ! उसकी बेडियाँ खुल गईं, उसका रूप सौन्दर्य इतना उत्कृष्ट लगने लगा मानों सिर भी पूर्ववत् सुन्दर केशों से सुशोभित हो रहा हो –

भा रही थी भावना, आहार देने के लिये....।
बेड़ियाँ तब खुल गईं, प्रभु वीर के शुभ दर्श से॥

सारा वातावरण एकदम बदल गया। बन्धन मुक्त चन्दना का लक्ष्य तो प्रभु की ओर था। बन्धन था और टूट गया, उसका भी लक्ष्य उसे नहीं है....**जिसप्रकार स्वानुभूति के काल में मुमुक्षु साधक को बन्ध-मोक्ष का लक्ष्य नहीं रहता, तथापि बन्धन टूट जाते हैं; आत्मदर्शन में लीन साधक के मोह बन्धन अचानक ही खुल जाते हैं.... उसीप्रकार प्रभु-दर्शन में लीन चन्दना की बेड़ी का बन्धन टूट गया**....आनन्दपूर्वक वह द्वार पर आयी; प्रभु की परमभक्ति सहित वन्दना करके पड़गाहन किया – अहो प्रभो ! पधारो.... पधारो.... पधारो....!

वीर प्रभु की मधुर दृष्टि चन्दना पर पड़ी....तो वह कृतार्थ हो गई, 'लोग मुझे नहीं पहिचानते, किन्तु मेरे प्रभु महावीर तो जानते हैं ?' प्रभु के दर्शनों से वह जीवन के सर्व दुःख भूल गई....भक्तिपूर्वक वीर मुनिराज को आहार हेतु आमन्त्रित किया....क्षणभर के लिये प्रभु वहाँ ठहरे....और देखा....तो दासी के रूप में तीन दिन की उपवासी राजकुमारी चन्दना आहारदान देने हेतु खड़ी है....दूसरे भी अनेक अभिग्रह पूरे हो गये....और १७५ दिन के उपवासी तीर्थंकर मुनिराज ने चन्दना के हाथ से पारणा किया।

ज्यों ही चन्दना ने प्रभु के हाथ में उड़द का प्रथम ग्रास रखा कि दाता और पात्र दोनों के दैवी पुण्यप्रभाव से उसका उत्तम खीररूप परिणमन हो गया ! उत्तम खीर से विधिपूर्वक प्रभु का पारणा होने से चारों ओर आनन्द मंगल छा गया; देवगण आकाश में जय-जयकार करने लगे और रत्नवृष्टि होने लगी; देवदुंदुभी बज उठी....समस्त कौशाम्बी नगरी में हर्ष एवं आश्चर्य फैल गया कि – अरे, यह काहे का उत्सव है ?....और जब उन्होंने जाना कि आज वीर मुनिराज का पारणा हो गया है और उसी के हर्षोपलक्ष्य में देवगण यह महोत्सव कर रहे हैं....तब नगरजनों के आनन्द का पार नहीं रहा।

मुनिराज महावीर प्रतिदिन नगरी में पधारते और बिना आहार किये लौट जाते....उन प्रभु ने आज आहार ग्रहण किया....नगरी में यह समाचार फैलते

ही लोग हर्ष से दौड़ते हुए उधर आने लगे कि चलो, उस भाग्यशाली आत्मा के दर्शन करें और अभिनन्दन करें....जिसके हाथ से यह महान कार्य हुआ है। लोगों ने जब देखा कि वृषभदत्त सेठ की एक दासी के हाथ से प्रभु ने आहार लिया है, तब वे आश्चर्यचकित हो गये....अरे, लोगों को क्या खबर थी कि वह दासी नहीं किन्तु प्रभु महावीर की मौसी है....उनकी श्रेष्ठ उपासिका है....प्रभु को पारणा कराके चन्दना धन्य हो गई। ....आहार ग्रहण करके वे वीर योगिराज तो मानों कुछ भी नहीं हुआ हो – ऐसे सहजभाव से वन की ओर गमन कर गये और वहाँ जाकर आत्मध्यान में लीन हो गये। जबतक प्रभु जाते हुए दिखाई दिये, तबतक चन्दना उन्हें टकटकी बाँधे देखती रही....आकाश में देव और पृथ्वी पर जनसमूह उसे धन्यवाद देकर उसकी प्रशंसा कर रहे थे....किन्तु चन्दना तो सारे जगत को भूलकर, समस्त परभावों से परे, चैतन्यतत्त्व के निर्विकल्प ध्यान में शान्तिपूर्वक बैठी थी....उसकी गम्भीरता अद्भुत थी।

इधर वृषभदत्त सेठ के घर में मुनिराज के आहारदान का प्रसंग बनने से आनन्द-मंगल छाया हुआ है.... उधर सेठ स्वयं तो बेड़ी कटवाने हेतु लुहार को बुलाने गये थे सो वापिस लौट रहे हैं....मार्ग में आनन्दमय कोलाहल देखकर लोगों से पूछा – यह क्या हो रहा है ? किस बात का है इतना हर्षमय कोलाहल ?

तब प्रजाजन कहने लगे – अरे सेठ ! आपके तो भाग्य ही खुल गये !....आपके आँगन में तो महावीर मुनिराज का पारणा हुआ है ! पाँच मास और पच्चीस दिन के उपवास पश्चात् पारणे का धन्य अवसर आपको प्राप्त हुआ है। आपके गृह-आँगन में चन्दना ने भगवान को आहारदान दिया है....उसी का यह उत्सव हो रहा है....देव भी आपके आँगन में रत्नवृष्टि एवं जय-जयकार कर रहे हैं।

सेठ तो आश्चर्यचकित होकर घर की ओर दौड़े...हर्षानन्द का स्वयंभूरमण समुद्र उनके हृदय में उछलने लगा....क्या हुआ ? कैसे हुआ ? चन्दना की बेड़ी किसने काटी ? उसने प्रभु को काहे से किसप्रकार पारणा कराया ? ऐसे अनेक प्रश्न हर्ष के समुद्र में डूब गये....वे घर पहुँचे तो वहाँ सारा वातावरण ही बदल गया था। कहाँ कुछ क्षणपूर्व का अशांत क्लेशमय वातावरण और कहाँ यह उल्लासपूर्ण आनन्द ! चन्दना का अद्भुत रूप पहले से भी अधिक सुन्दर देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये और हर्ष से बोल उठे – वाह बेटी चन्दना ! धन्य है तू !

तूने मेरा घर पावन किया.... कौशाम्बी नगरी की शोभा बढ़ा दी....तुझे पाकर मैं धन्य हो गया....तू तो देवी है....अरे रे, हम तुझे नहीं पहचान सके और अभी तक दासी बनाकर रखा। बेटी, हमारा अपराध क्षमा कर दे ! तू दासी नहीं है, तू तो जगत्पूज्य माता है।

चन्दना बोली – पिताजी, वह बात भूल जाइये....मुझ पर आपका महान उपकार है....आपने ही मुझे संकट में, शरण देकर मेरी रक्षा की है।

यह आश्चर्यमय घटना देखकर सुभद्रा सेठानी तो दिग्मूढ़ बन गई....उसके पश्चाताप की कोई सीमा नहीं थी; वह चन्दना के चरणों में गिरकर क्षमायाचना करने लगी – बेटी, मैं तुझे नहीं पहिचान सकी, मुझ पापिन ने तुझे बहुत कष्ट दिये....मुझे क्षमा कर दे बेटी।

चन्दना ने उसका हाथ पकड़कर कहा माता ! वह सब भूल जाओ, मेरे ही कर्मोदय से वह सब हुआ; परन्तु प्रभु महावीर के मंगल-पदार्पण से आपका घर पावन हो गया और हम सब धन्य हुए ! मानों महावीर का अभिग्रह पूर्ण होने के लिये ही यह सब हुआ था।

आत्म-मंथन करती हुई चन्दना विचार रही है कि अहा ! एक आहारदान की भावना से मेरी बेड़ी के बन्धन टूट गये.... तो परम चैतन्य की निर्विकल्प भावना से भव के बन्धन टूट जाएँ इसमें क्या आश्चर्य ? आत्मभावना द्वारा मैं अपने भव बन्धन को भी अल्पकाल में अवश्य ही तोड़ डालूँगी। महावीर प्रभु के दर्शन मात्र से मेरे बाह्य बन्धन छूट गये तो अन्तर में चैतन्य प्रभु के दर्शन से भवबन्धन भी टूटने में अब क्या विलम्ब ? (शास्त्रकार प्रमोद से कहते हैं – वाह री वाह, चन्दना सती ! धन्य है तुम्हारा शील, धन्य है तुम्हारा धैर्य और धन्य है तुम्हारी भावना ! तुम महान हो। प्रभु महावीर जब सर्वज्ञ होंगे तब उनकी धर्मसभा में जो स्थान १४००० मुनियों के नायक रूप में गणधर-गौतमस्वामी का होगा, वही स्थान ३६००० आर्यिकाओं के बीच तुम्हारा होगा। हृदय में परम हर्ष एवं वात्सल्य उमड़ आता है तुम्हारे ऐसे उत्तम-उज्ज्वल जीवन को जानकर।)

सारी कौशाम्बी नगरी उमड़ पड़ी है महावीर मुनि को पारणा करानेवाली उन चन्दना देवी के दर्शन करने तथा उन्हें अभिनन्दन देने को। अहा, आज तक जिसे

हम दासी समझते थे वह तो भगवती देवी निकली। उन्होंने वीर प्रभु को पारणा कराके अपनी कौशम्बी नगरी का सम्मान बढ़ाया और उसे विश्व प्रसिद्ध कर दिया। अपनी नगरी में वीर प्रभु का आहार नहीं होने का जो कलंक लग रहा था उसे आज चन्दना ने आहारदान देकर मिटा दिया। बहुतों को तो आश्चर्य हो रहा था कि आहारदान और किसी के हाथ से नहीं, एक दासी के हाथ से हुआ।

(अरे नगरजनो ! कलंक तो तुम्हारी नगरी में चन्दना जैसी सती दासीरूप में बिकी उसका था....प्रभु महावीर ने उस दासी के ही हाथ से पारणा करके वह कलंक मिटा दिया।....दासी प्रथा दूर कर दी....मनुष्य, मनुष्य को बेचे वह कलंक धो दिया; तथा यह भी प्रचारित किया कि धर्मसाधना में धनवान होने का कोई महत्त्व नहीं है....सद्गुणों का महत्त्व है।)

नागरिकों के मन में प्रश्न उठने लगे कि यह चन्दना देवी हैं कौन ? कहाँ की हैं ? दिखने में तो पुण्यात्मा लगती हैं....इसप्रकार सब उनका परिचय प्राप्त करने को आतुर थे....इतने में राज्य की महारानी मृगावती अपनी नगरी में सेठ वृषभदत्त के घर मुनिराज महावीर के पारणे के समाचार सुनकर हर्ष सहित वहाँ आ पहुँचीं....और पूछने लगीं 'किसके हाथ से हुआ प्रभु का पारणा ?' ...और वे देखती हैं तो एकदम चौंक पड़ती हैं अरे ! यह कौन है ?.... यह तो मेरी छोटी बहिन चन्दनबाला ! अरे चन्दन....चन्दन तू यहाँ कैसे ?....ऐसा कहकर वे चन्दना से लिपट पड़ीं। अद्भुत था वह दृश्य !

दोनों बहिनों का मिलन देखकर, तथा चन्दना महारानी मृगावती की छोटी बहिन है यह जानकर नगरजन तो अचम्भे में पड़ गये और एक-दूसरे की ओर ताकते हुए कहने लगे – अरे, यह दासी नहीं, यह तो महावीर प्रभु की मौसी हैं, सेठ-सेठानी भी चकित रह गये....वे डर रहे थे कि 'अरे रे, इन राजकुमारी से दासीपना कराया....उसके लिये न जाने राजमाता हमें क्या दण्ड देंगीं....' हमारा सर्वस्व छीनकर हमें नगर से बाहर निकाल देंगीं ! चन्दना उनके भाव समझ गई और तुरन्त राजमाता के समक्ष सेठ-सेठानी का अपने माता-पिता के रूप में परिचय देते हुए कहा – दीदी ! इन्हीं ने संकट के समय मेरी रक्षा की है, ये माता-पिता से कम नहीं हैं, मुझ पर इनका महान उपकार है....इन्हीं के प्रताप से मुझे यह अवसर प्राप्त हुआ है। सेठ-सेठानी चन्दना का विवेक, क्षमा एवं उदारता देखकर गद्गद् हो गये और कहने लगे–

हे राजमाता ! हमारे घर में ऐसा अमूल्यरत्न होने पर भी हम उसे परख नहीं पाये....यह कई बार उत्तम धर्मचर्चा करती थीं, परन्तु हमें खबर नहीं पड़ने दी कि स्वयं राजपुत्री हैं। धन्य है इनकी गम्भीरता ! इनके पुण्य प्रताप से तो हमारे आँगन में वीर प्रभु का पदार्पण तथा पारणा हुआ। धन्य हमारे भाग्य ! यह सब चन्दना की उत्तम भावना का प्रताप है....बेटी चन्दना ! हमें क्षमा करना।

वीर प्रभु को पारणा कराने के पश्चात् चन्दना ने भी चार उपवासों के तप का पारणा किया....पश्चात् रानी मृगावती ने कहा – बहिन चन्दना ! मेरे साथ चलो और राजमहल में आनन्दपूर्वक रहो।

परम वैरागी चन्दना बोली – अरी बहिन ! इस संसार में आनन्द कैसा ? मैंने इस संसार की असारता देख ली है; अब इस संसार से बस होओ ! अब तो वीर प्रभु के मार्ग पर चलूँगी और आर्यिका बनकर उनके संघ में रहूँगी।

मृगावती ने कहा – बहिन चन्दना ! 'तेरी भावना उत्तम है' किन्तु महावीर प्रभु तो अभी मुनिदशा में विचर रहे हैं, मौन धारण कर रखा है, किसी को दीक्षा भी नहीं देते। जब वे केवलज्ञान प्राप्त करेंगे तब हम दोनों उनकी धर्मसभा में जाकर आर्यिकाव्रत धारण करके उनके चरणों में रहेंगे। तबतक धैर्य रखकर घर में ही धर्मध्यान करो और हमें सत्संग का लाभ दो। तुम कौशाम्बी में इतने दिन रहीं, इतने संकट सहे....और हमें खबर तक नहीं पड़ी।

चन्दना ने कहा – दीदी ! यह सब कर्मों की विचित्रता है....और मेरे ऊपर अकेले संकट थोड़े ही आये हैं ? ...देखो न, आज वीरप्रभु के दर्शन तथा आहारदान का महान लाभ प्राप्त हुआ; वह क्या कम भाग्य की बात है ? संसार में सर्व जीवों को शुभ और अशुभ, हर्ष और शोक के प्रसंग तो आते ही रहते हैं किन्तु –

अपना ज्ञानस्वभाव है, हर्ष-शोक से पार।
उस स्वभाव को साधकर, होना भव से पार॥

मृगावती – तुम्हारी बात सच है बहिन ! एक ओर तुम्हारा दासी जीवन देखकर शोक और दूसरी ओर तुम्हारे ही हाथ से वीर प्रभु का पारणा देखकर हर्ष, – इसप्रकार शोक और हर्ष दोनों एक साथ; इनमें से मैं शोक का वेदन करूँ या हर्ष का ? **नहीं; हर्ष और शोक दोनों से परे चैतन्यभाव ही आत्मा का सच्चा**

स्वरूप है और उसी में सच्चा सुख है, – यह बात स्पष्ट समझ में आती है।

पाठको ! इस घटना में चन्दना की बेड़ी टूट गई, वह दासत्व से छूट गई; परन्तु वास्तव में अकेली चन्दना ही नहीं, सारे भारतवर्ष से दासत्व के/गुलामी के बन्धन टूट गये....दासत्व प्रथा की जड़ उखड़ गई; नारियों के शील की महान प्रतिष्ठा हुई और भारत की नारियों में अपनी आत्मशक्ति का विश्वास पैदा हुआ। भारत की सन्नारियों ने विश्व में उत्तम स्थान प्राप्त किया। अहा, अपने देश के पास जो श्रेष्ठ, सदाचार एवं अध्यात्म का अमूल्य वैभव है वह क्या दुनिया के किसी और देश के पास है ? २४ तीर्थंकरों तथा समस्त चक्रवर्तियों को जन्म देनेवाली इस भारत भूमि का गौरव विश्व में महान है....भारत में जन्म लेनेवाले हम सब गौरवपूर्वक कह सकते हैं कि '' हम उस देश के वासी हैं, जिस देश में होते तीर्थंकर। हमारा जन्म तीर्थंकरों के देश में हुआ है....तीर्थंकर हमारे देश में जन्मे हैं। तीर्थंकरों का और हमारा देश एक ही है।'' धन्य, मेरी प्यारी भारतमाता ! मुनिरूप से विचरते तीर्थंकर के चरणों का साक्षात् स्पर्श करने का महाभाग्य तुझे प्राप्त हुआ है....'वन्दे मातरम्।'

(वीर संवत् २५०५, फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि के १ बजे यह लिखते-लिखते महान ऊर्मियाँ जागृत हो रही हैं – अहाहा ! चन्दना बहिन, मेरे पास आओ न ! हम आनन्दपूर्वक स्वानुभव की चर्चा करें....और मैं प्रभु महावीर के मधुर संस्मरण तुम्हारे पास से जी भरकर सुनूँ !)

राजगृही में चिन्तातुर बहिन चेलना, वैशाली में बहिन प्रियकारिणी त्रिशला तथा चन्दना के पिताजी राजा चेतक और प्रजाजन सब को चन्दना के मिल जाने की खबर सुनकर तथा उसके हाथ से वीर मुनिराज का पारणा होने के समाचार जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई।

अब, इधर चन्दना अपनी बहिन मृगावती के साथ कौशाम्बी के राजमहल में रहती हैं और वैराग्यपूर्ण जीवन बिताती हैं; स्वानुभूति में अधिकाधिक परिणाम लगाती हैं; दिन-रात महावीर के विचारों में तल्लीन रहकर समवसरण के सपने देखती हैं कि कब वर्द्धमान प्रभु को केवलज्ञान हो और कब मैं प्रभु के समवसरण में जाकर आर्यिका बनूँ। प्रतिदिन प्रभु को केवलज्ञान होने के समाचार की प्रतीक्षा

करती है। वीर प्रभु राजगृही की ओर सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र के आस-पास विचर रहे हैं....वहाँ से कोई भी यात्री आता तो उन्हें बुलाकर आतुरता से समाचार पूछती हैं कि तुमने प्रभु को देखा ? प्रभु को केवलज्ञान हुआ ?....वे इस समय कहाँ विराजते हैं ? क्या करते हैं ?

एक यात्री ने कहा – बहिन, मैं वीरप्रभु के दर्शन करके आ रहा हूँ। जांभिक ग्राम में ऋजुवालिका नदी के तटपर प्रभु ध्यान में लीन खड़े थे....और अब तो केवलज्ञान की तैयारी लगती है; क्योंकि प्रभु अति उग्ररूप से ध्यान में एकाग्र हों – ऐसा लगता था; किन्तु बहिन ! क्या प्रभु को केवलज्ञान होने की बात कहीं छिपी रहेगी ?....अरे, केवलज्ञान होते ही तीनों लोक में उसके समाचार फैल जायेंगे और आनन्द ही आनन्द छा जायेगा....आकाश से देवों के समूह धरती पर उतरेंगे....अब तो हम शीघ्र ही वह धन्य अवसर देखेंगे....और तीर्थंकर रूप में प्रभु की दिव्यध्वनि सुनकर धन्य बनेंगे।

प्रिय साधर्मी पाठको ! चलो, हम भी चन्दना जिनकी राह देख रही है....उन प्रभु महावीर के दर्शन करने तथा उनके केवलज्ञान का दिव्य-महोत्सव प्रत्यक्ष देखने चलें।

ऋजुवालिका के किनारे : प्रभु को केवलज्ञान

महावीर मुनिराज कौशाम्बी नगरी में चन्दना कुमारी के हाथ से पारणा करने के पश्चात् उद्यान में जाकर ध्यान मग्न हो गये। पश्चात् वे सिद्धपद साधक सन्त विहार करते हुए अनन्त सिद्धों के सिद्धिधाम सम्मेदशिखर पधारे। सिद्धिधाम में वे भावी सिद्ध ध्यान में बैठे थे – वह दृश्य वास्तव में अद्भुत था। प्रभु के चरण स्पर्श से शिखरजी की पावन भूमि पुन: पावन हुई; दो तीर्थों का मिलन हुआ – एक भावतीर्थ और दूसरा स्थापना तीर्थ; अथवा एक चेतनतीर्थ और दूसरा अचेतन-तीर्थ। हमें ऐसा लगेगा कि क्या भगवान तीर्थयात्रा हेतु आये होंगे ? अरे, किन्तु प्रभु तो स्वयं ही चलते-फिरते जीवन्त-तीर्थ हैं। शिखरसम्मेद तो स्थापना तीर्थ है, जबकि प्रभु तो स्वयं रत्नत्रयरूप परिणमित जीवन्त-तीर्थ हैं। मोक्षयात्रा तो सदा कर ही रहे हैं और साक्षात् रत्नत्रय तीर्थरूप परिणमित ऐसे महात्माओं के प्रताप से ही भूमि-पर्वतों को तीर्थपना प्राप्त हुआ है।

सम्मेदशिखर तीर्थ के निकट १५-२० किलोमीटर दूर जांभिक ग्राम के समीप ऋजुवालिका नदी बहती है; जैसा सुन्दर नाम वैसी ही सुन्दर नदी है। महावीर प्रभु सम्मेदशिखर से विहार करते हुए उस नदी के तट पर आये और एक स्फटिक समान स्वच्छ सुन्दर शिला पर ध्यानस्थ हुए। वैशाख मास की तीव्र तपन में भी प्रभु तो मानों चैतन्यशान्ति की हिमशीतल गुफा में बैठे-बैठे अपूर्व वीतरागी शीतलता का वेदन कर रहे हों....और मानों प्रकृति भी अनुकूल होकर प्रभु की सेवा कर रही हो, तद्नुसार एक घटादार शाल्मली वृक्ष प्रभु को शीतल छाया दे रहा है। अहा! चैतन्य के साधक को सारा जगत अनुकूल ही वर्तता है।

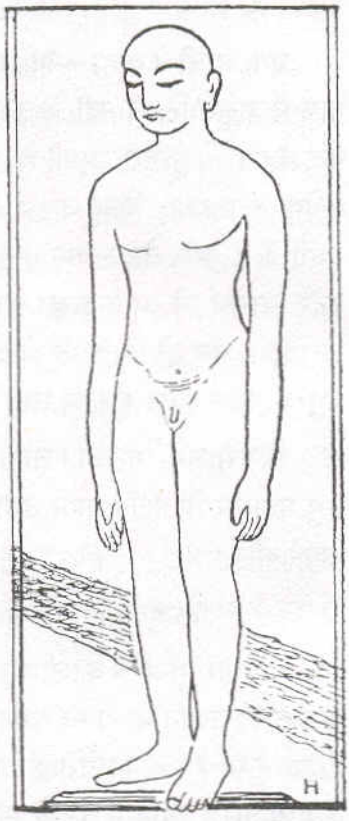

प्रभु ध्यान में खड़े हैं....अहा ! ऐसे वीतरागी महात्मा मेरे तट पर पधारे ! इसप्रकार हर्षतरंगों से उछलती कल-कल करती नदी मानों आज विशेष हर्षित हो रही हो, तद्नुसार जांभिक ग्राम के निकट वह दृश्य देखने के लिये क्षणभर थम जाती थी। अहा! मेरे किनारे आज कोई अद्भुत योगिराज आकर ध्यान लगा रहे हैं। प्रातःकाल से ध्यानमग्न योगिराज....न तो कुछ बोलते हैं, न खाते हैं और न पानी पीते हैं ! यह नदी का किनारा, यह ग्रीष्म का ताप और यह शीतल मिष्ट जल....जो भी यात्री यहाँ आता है वह शीतल जल पिये बिना नहीं रहता; परन्तु यह योगिराज तो ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप में खड़े होने पर भी पानी का नाम तक नहीं लेते....मानों नदी को आश्चर्य हो रहा है, वह सोच रही है, क्या इन्हें गर्मी नहीं लगती होगी ? क्या इन्हें तृषा नहीं सताती ?....मैं उछलकर इनके मुखद्वार से हृदय में प्रविष्ट हो जाऊँ और अपनी शीतलता से इनकी तृषा मिटाकर सेवा करूँ !....किन्तु नहीं, वे यहाँ पानी के लिये नहीं आये....आँख

उठाकर वे पानी की ओर देखते तक नहीं हैं....वे तो आँखें झुकाए अन्तर में कुछ और ही देख रहे हैं। उनकी मुद्रा देखकर लगता है कि उन्हें बाह्य में कुछ भी खोजने की इच्छा नहीं है....उनके मुख पर क्षुधा-तृषा की आकुलता के भाव भी दिखायी नहीं देते, उस पर तो परमशान्ति एवं प्रसन्नता झलक रही है। भक्ति तरंगों से कल-कल करती हुई ऋजुका नदी मानों अपनी उस ध्वनि से उनकी स्तुति कर रही है कि अहा ! मैं शीतल स्वभावी होने पर भी मुझ से अधिक शीतलता-शान्ति सम्पन्न इन योगिराज को तो मैंने आज ही देखा है, अन्तर में वे न जाने कैसी अद्भुत शीतलता का वेदन कर रहे हैं कि उन्हें पानी की बाह्य शीतलता की इच्छा नहीं है। ऐसे योगिराज मेरे तट पर पधारे, जिससे मैं धन्य हो गई हूँ। अहा ! इन योगिराज की चरण-रज से मैं भी पावन हो गई हूँ।

इधर मोह से युद्ध करने के लिये वीर योद्धा तैयार खड़े हैं....वीर राजा का महावीरपना आज सचमुच जागृत हो उठा है; क्षायिक सम्यक्त्व उनकी सेना का सेनापति है और अनन्तगुणों की विशुद्धिरूप सेना शुक्लध्यान के श्रेणीरूप बाणों की वर्षा कर रही है; अनन्त आत्मवीर्य उल्लसित हो रहा है और अनन्त सिद्ध भगवन्त उनके पक्ष में आ मिले हैं। केवलज्ञानलक्ष्मी विजय माला लेकर तैयार खड़ी है और मोह की समस्त सेना प्रतिक्षण घट रही है। अरे, देखो....देखो ! प्रभु तो शुद्धोपयोगरूप चक्र की धार से मोह का नाश करने लगे हैं, क्षपक श्रेणी में आगे बढ़ते-बढ़ते आठवें....नौवें....दशवें गुणस्थान में तो क्षणमात्र में पहुँच गये हैं। प्रभु अब सर्वथा वीतरागी हो गये....और सूर्यास्त से पूर्व तो वीरप्रभु के अन्तर में जो कभी अस्त न हो ऐसा केवलज्ञान सूर्य जगमगा उठा....अहा ! प्रभु महावीर सर्वज्ञ हुए....अरिहन्त हुए....परमात्मा हुए....'णमो अरिहंताणं।'

सर्वज्ञ प्रभु महावीर राग और इन्द्रियों के बिना ही परिपूर्ण सुख और ज्ञानरूप परिणमित हुए। अभूतपूर्व थी वह दशा ! इन्द्रियाँ विद्यमान होने पर भी मानों अविद्यमान हों – इसप्रकार प्रभु ने उनका सम्बन्ध सर्वथा छोड़ दिया। 'भगवान भले अतीन्द्रिय हुए और हमारा साथ छोड़ दिया, फिर भी हमें प्रभु के साथ रहने में ही लाभ है' ऐसा मानकर वे जड़ इन्द्रियाँ अभी प्रभु का साथ नहीं छोड़ती थीं। प्रभु तो इन्द्रियों से निरपेक्ष रहकर स्वयमेव सुखी थे। **पराधीन इन्द्रियसुख से ठगे**

जा रहे जगत को प्रभु ने बतला दिया कि आत्मा इन्द्रिय विषयों के बिना ही स्वाधीन रूप से सुखी है; सुख वह आत्मा का स्वभाव है, इन्द्रियों का नहीं।'

शुद्धोपयोग के प्रभाव से आत्मा स्वयं परम सुखरूप परिणमता है।

इन्द्रियातीत तथा लोकोत्तम ऐसे वे वीर भगवान केवलज्ञान होते ही पृथ्वी से ५००० धनुष ऊपर अन्तरिक्ष में विराजमान हुए। अहा ! पृथ्वी का अवलम्बन उनको नहीं रहा और अब वे फिर कभी पृथ्वी पर नहीं उतरेंगे। उनका शरीर छायारहित परम औदारिक हो गया; सब को देखनेवाले प्रभु स्वयं भी सर्व दिशाओं से दिखने लगे। प्रभु के केवलज्ञान का महोत्सव करने तथा अरिहन्त पद की पूजा करने स्वर्ग से इन्द्रादि देव पृथ्वी पर आ पहुँचे। इन्द्र ने स्तुति करते हुए कहा – हे देव ! आप वीतरागता एवं सर्वज्ञता द्वारा जगत में सर्वोत्कृष्ट सुन्दरता को प्राप्त हुए हैं; आप परम इष्ट हैं।

सर्वज्ञ परमात्मा का साक्षात्कार करके हजारों लाखों जीव पावन हुए। कुबेर ने अत्यन्त भक्तिसहित संसार की सर्वोत्कृष्ट विभूति द्वारा समवसरणरूप जिनेन्द्रसभा की रचना की। ऐसी रचना वह इन्द्र की आज्ञा से करता होगा या प्रभु की तीर्थंकर प्रकृति से प्रेरित होकर ?....यह तो वही जाने ! परन्तु यह रचना पूर्ण करते ही आश्चर्यचकित होकर उसने कहा – अहो देव ! आपके सान्निध्य के कारण आपका समवसरण जैसा सुशोभित होता है वैसा हमारा स्वर्ग भी शोभा नहीं देता ! (कैसे शोभा देगा ?....अरे कुबेर ! यहाँ तो मोक्ष प्राप्त होता है, तुम्हारे स्वर्ग में कहाँ मोक्ष मिलता है ? हे कुबेर ! तुम स्वर्गलोक की उत्कृष्ट शोभा यहाँ ले आये; परन्तु इन सर्वज्ञदेव की चैतन्य विभूति के समक्ष तुम्हारी विभूति का क्या मूल्य ?)

सम्पूर्ण नीलमणि की शिला पर पृथ्वी के आधार बिना प्रभु के समवसरण की दिव्यरचना हुई; परन्तु उस दिव्य शोभा में मुमुक्षु का चित्त नहीं लगता था; क्योंकि उसका चित्त तो सर्वज्ञ प्रभु के चरणों में ही लगा है। उसे तो देखना है साक्षात् परमात्मा को !....चेतनवन्त वीतराग देव को प्रत्यक्ष देखकर उनकी उपासना करना है....और रागरहित आत्मा का स्वाद लेना है। प्रभु की शोभा कहीं बाह्य ठाठ-बाट में नहीं है, उनकी शोभा तो सर्वज्ञता एवं वीतरागता से है; इसलिये उसी में मुमुक्षु का चित्त स्थिर

होता है। हे प्रभो ! आपके शुद्ध चेतनस्वरूप को जानने से हमें अपना भी ऐसा ही शुद्धात्मा अनुभूति में आता है – यह आपका उपकार है। इसप्रकार सर्वज्ञ की सभा में प्रवेश करते हुए मुमुक्षु का गौरव बढ़ जाता था और उसके परिणाम विशुद्ध होते थे। उसे ऐसी अचिन्त्य अनुभूति होती थी, मानों अपने ज्ञान में ही सर्वज्ञ बैठे हों !

प्रभु के चारों ओर दिव्य सभामण्डप है, जहाँ मोक्ष के साधक सभाजन बैठे हैं और भगवान महावीर के दर्शन का आनन्द ले रहे हैं। श्रीमण्डप की शोभा सर्वार्थसिद्धि की शोभा से भी बढ़कर है। अहा ! यह तो सर्वज्ञ की सभा....परमात्मा का दरबार.... तीर्थंकर की धर्म सभा ! उसकी अद्भुतता का क्या कहना ! गणधर एवं इन्द्र जिस सभा में बैठते थे, वहाँ जगत की सर्व लक्ष्मी – समस्त शोभा एकत्रित हुई थी। केवलज्ञान लक्ष्मी का भी जहाँ निवास हो वहाँ अन्य लक्ष्मी को तो कौन पूछे ?

अहा ! एक ओर भगवान की 'केवलज्ञान-श्री' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ज्ञानलक्ष्मी की शोभा और दूसरी ओर समवसरण की दिव्य शोभा; इसप्रकार जीव और अजीव दोनों ने अपनी-अपनी सर्वोत्कृष्ट शोभा धारण की थी। परन्तु उनमें से जो जीव उत्कृष्ट शोभावान 'सर्वज्ञ-महावीर' को जान ले, वह जीव सम्यग्दृष्टि होकर अखूट चैतन्यलक्ष्मी के भण्डार अपने में देख लेता है।

वीतरागी, शान्तभावरूप परिणमित आत्मा कैसा होता है, उसे प्रत्यक्ष देखकर उन्हें आत्मा के शान्तस्वभाव की प्रतीति हो जाती है। अहा ! सर्वज्ञ तीर्थंकर जिसके नायक, गणधर जिसके मंत्री और देव जिसके द्वारपाल हों उस दरबार का क्या कहना ! भगवान ऋषभदेव की धर्मसभा (समवसरण) बारह योजन व्यास की थी और भगवान महावीर की एक योजन व्यास की है; परन्तु दोनों धर्मसभाओं में भगवन्तों ने जिस चैतन्यतत्त्व का प्रतिपादन किया तथा जो मोक्षमार्ग बतलाया वह तो एकसमान ही था।

उत्तम छाया तथा दिव्यप्रकाश द्वारा जो प्रभु की सेवा कर रहा था, वह अशोक वृक्ष आश्चर्य उत्पन्न करता था कि जड़ के बिना इतना विशाल वृक्ष कैसे बना ? और देखो, यह भी एक आश्चर्य की बात है कि वहाँ जगत में श्रेष्ठ सिंहासन होने पर भी प्रभु उस पर बैठते नहीं हैं; उससे ऊपर-अन्तरिक्ष में बैठकर ऐसा प्रगट करते

हैं कि यह रत्नसिंहासन वह कोई निजपद नहीं है; निजचैतन्य का पद तो अन्तर में अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द द्वारा निर्मित है....उस पर प्रभु आरूढ़ हैं। ज्ञानानन्द पद में विराजमान सर्वज्ञ महावीर को देखकर भव्यजीव भी ज्ञानानन्द में लीन हो जाते थे....और प्रभु की दिव्यवाणी का श्रवण करने के लिये अत्यन्त आतुर थे। प्रभु कैसा अद्भुत बोलेंगे ? कैसा अचिन्त्य आत्मस्वरूप बतलायेंगे....प्रभु अभी बोलेंगे.... प्रात:काल बोलेंगे.... मध्याह्न में बोलेंगे....सांयकाल बोलेंगे... कल तो अवश्य बोलेंगे.... इसी आशा में दिवसों पर दिवस बीत रहे हैं जीवों के झुण्ड के झुण्ड समवसरण में आ रहे हैं और साक्षात् परमात्मा के दर्शनों से हर्षित होते हैं....परन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरती।

यद्यपि वीरप्रभु अभी बोलते नहीं हैं; परन्तु मौन रहकर, अनिच्छा से गगनविहार करते हैं। विहार करते-करते वे राजगृही में विपुलाचल पर पधारे। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन प्रभु को केवलज्ञान हुआ था; वह शेष वैशाख मास पूरा बीत गया, ज्येष्ठ मास भी बीत गया और अब आषाढ़ भी पूरा होने लगा है....ग्रीष्म ऋतु समाप्त हुई....६६ दिन बीत चुके हैं, किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरती; तथापि भव्यजीव थके नहीं हैं, वे तो प्रभु की वाणी सुनने के लिये समवसरण में ही बैठे हैं; वहाँ उन्हें भूख नहीं लगती और न प्यास; थकान भी नहीं लगती और निद्रा भी नहीं आती। मानों क्षुधा-तृषा रहित भगवान के सान्निध्य में उनकी भी क्षुधा-तृषा एवं निद्रा शान्त हो गई हो। (समवसरण में किसी को क्षुधा-तृषा-रोगादि नहीं होते।)

अब तो आषाढ़ भी पूर्ण होकर श्रावण मास प्रारम्भ हो चुका है... इसप्रकार श्रावण कृष्णा प्रतिपदा आयी; वर्षाऋतु प्रारम्भ हो गई। अब तो प्रभु के मुख से भी दिव्यध्वनि की वर्षा अवश्य होगी –ऐसे विश्वासपूर्वक सभाजन भगवान की ओर दृष्टि लगाये बैठे थे...।

इतने में अचानक एक ऋषि-महात्मा ने समवसरण में प्रवेश किया; उनका नाम था इन्द्रभूति-गौतम ! मानस्तम्भ के निकट आते ही उनका मान विगलित हो गया और प्रभु की दिव्यता देखते ही विनीत हो गये। अहा, ऐसी अद्भुत वीतरागता! यह आत्मा अवश्य ही सर्वज्ञ परमात्मा हैं – ऐसा विश्वास आ गया

और प्रभु के पादमूल में नम्रीभूत होकर उसी समय उन्होंने संयम धारण किया।

इन्द्रराज हर्षपूर्वक यह सब देखते रहे और उन महात्मा-गौतम को आदर पूर्वक मुनिवरों की सभा में ले गये। ज्यों ही मुनिराज इन्द्रभूति-गौतम मुनिवरों की सभा में जाकर प्रभु को हाथ जोड़कर बैठे कि तुरन्त सर्वज्ञ महावीर के सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरने लगी –

वीर प्रभु के ज्ञान गगन से बरसे अमृतधार;
विपुलगिरी पर दिव्यध्वनि की होती जय-जयकार।

रत्नत्रय की खिली वाटिका, आनन्द का सौरभ है;
करते निज कल्याण जीव, जिनशासन का गौरव है।

समवसरण के मध्य विराजे वीरनाथ भगवान;
हर्षित हो सुर-नर-मुनि करते प्रभुजी का गुणगान।

स्वाश्रित चेतनभाव सहित प्रभु करते मोक्षप्रकाश;
भव्यजीव भव से तिरने की लगा रहे हैं आश।

रत्नत्रयनिधि की उपासना हरि करते हैं निशदिन;
निजवैभव कर प्राप्त सभी होते प्रसन्न मन ही मन।

मुनि-गणधर भी धर्मसभा में धरते आतमध्यान;
सबके मन की एक भावना हो शिवपुर प्रस्थान।

अहा ! वह आश्चर्यकारी दिव्यध्वनि सुनकर सर्व जीव आनन्दमग्न हो गये; उसमें परम चैतन्यतत्त्व का अचिन्त्य स्वरूप श्रवण करके अनेक जीव ऐसे अन्तर्लीन हुए कि तत्क्षण निर्विकल्प होकर आत्म-अनुभूति करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र

को प्राप्त हुए। इसप्रकार तीर्थंकर भगवान महावीर ने रत्नत्रयतीर्थ का प्रवर्तन किया.... धर्मचक्र का प्रवर्तन किया।

गौतमस्वामी रत्नत्रयसंयुक्त मुनियों के नायक बने, उन्हें उसी क्षण अप्रमत्तदशा उदित हो उठी; मन:पर्ययज्ञान हुआ; वे बारह अंग के ज्ञाता श्रुतकेवली हुए; अनेक महान लब्धियाँ उनके प्रगट हो गईं। उन्हें वचनलब्धि तो ऐसी अपूर्व प्रगट हुई कि करोड़ों-अरबों श्लोक धीर-गम्भीर, मधुर, स्पष्ट स्वर में दो घड़ी में बोल सकते थे; करोड़ों मनुष्य और तिर्यञ्च एकसाथ भिन्न-भिन्न भाषायें बोल रहे हों, तब भी प्रत्येक की बात अलग-अलग स्पष्ट समझ सकते थे। बुद्धिलब्धि, औषधलब्धि, रसलब्धि, अक्षयलब्धि, विक्रियालब्धि....आदि अनेक लब्धियाँ प्रगट होने पर भी वे जानते थे कि इन सर्व लब्धियों की अपेक्षा आत्मानुभूति की लब्धि कोई अचिन्त्य सामर्थ्यवान है और सर्वज्ञ की केवलज्ञानलब्धि के समक्ष तो ये समस्त लब्धियाँ अनन्तवें भाग की हैं। इसप्रकार अत्यन्त निर्मानतापूर्वक वे तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणधर बने और हाथ जोड़कर प्रभु की स्तुति की –

शत-इन्द्र वंदित त्रिजगहित, निर्मल मधुर उपदेश दे।
नि:सीम गुण जो धारते, जितभव नमूँ जिनराज को॥
सुर-असुर-नरेन्द्र वंद्य को, प्रविनष्ट घातीकर्म को।
प्रणमन करूँ मैं धर्मकर्ता, तीर्थ श्री महावीर को॥

इन्द्रभूति-गौतम के अतिरिक्त उनके दो भाई अग्निभूति और वायुभूति तथा शुचिदत्त, सुधर्म, मांडव्य, मौर्यपुत्र, अकम्पन, अचल, मेदार्य एवं प्रभास – ऐसे कुल ११ गणधर महावीर प्रभु के थे। अब, गौतमस्वामी वीर प्रभु के समवसरण में अचानक कैसे आ पहुँचे ? उसकी रोमांचक कथा सुनो –

ऋजुकुला नदी के तट पर वीर प्रभु को केवलज्ञान हुआ, समवसरण की रचना हुई, किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिरी; विहार करते-करते प्रभु राजगृही में विपुलाचल पर पधारे। ६६ दिन बीत जाने पर भी भगवान का उपदेश क्यों नहीं हुआ ? भगवान तो तीर्थंकर हैं, इसलिये दिव्यध्वनि के उपदेश द्वारा तीर्थ प्रवर्तन हुए बिना नहीं रह सकता; किन्तु इतना विलम्ब क्यों ? भव्यजीव वाणी सुनने के लिये प्यासे चातक की भाँति आतुर हो रहे हैं। अन्त में इन्द्र का धैर्य समाप्त हुआ;

उसने अवधिज्ञान से देखा कि तीर्थंकर देव के धर्मोपदेश के समय जिसकी उपस्थिति अनिवार्य होती है – ऐसा कोई गणधर इस सभा में उपस्थित नहीं है। वह गणधर होने वाला जीव तो इस समय वेद-वेदान्त में पारंगत महापण्डित के रूप में गौतमग्राम (गुणावा नगरी) में है – ऐसा जानकर इन्द्र ने उन गौतम को समवसरण में लाने की युक्ति बनायी। स्वयं एक ठिगने ब्राह्मण का रूप धारण करके गौतम के पास पहुँचे और विनयपूर्वक कहा – हे स्वामी ! मैं महावीर तीर्थंकर का शिष्य हूँ; मुझे एक श्लोक का अर्थ समझना है, परन्तु मेरे गुरु ने तो अभी मौन धारण किया है, इसलिये आपके पास उस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।

इन्द्रभूति ने प्रेम से कहा – बोलो वत्स ! कौन-सा श्लोक है तुम्हारा ?

ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने कहा – सुनिये महाराज !

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीव षट्काय-लेश्या।
पंचान्ये चास्तिकायाः व्रतसमितिगति ज्ञान-चारित्रभेदाः॥
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहिते प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

श्लोक बोलकर इन्द्र ने कहा – हे देव ! इसमें तीनकाल, छहद्रव्य, नवपदार्थ, पंचास्तिकाय आदि जिन्हें जानना मोक्ष का मूल है वे क्या हैं ? उन्हें समझाइए ?

महान विद्वान इन्द्रभूति विचार में पड़ गये कि यह श्लोक तो मैं प्रथम बार सुन रहा हूँ। इसमें तो जीवादितत्त्वों का वर्णन है, परन्तु मेरे मन की गहरायी में तो अभी 'जीव' के अस्तित्व की ही शंका है।

तब फिर मैं इस ब्राह्मण को उसका स्वरूप कैसे समझाऊँ ?....अवश्य ही यह श्लोक कहने वाले इसके गुरु कोई असाधारण एवं जीवतत्त्व के ज्ञाता होना चाहिये। इन्द्रभूति बहुत मंथन करने के बाद भी श्लोक का भाव नहीं समझ सके। अहा ! सर्वज्ञमार्ग के रहस्य को एकान्त-मिथ्यावादी कहाँ से समझ सकेंगे ? उसने विचार किया – अरे, मैं समस्त वेद-पुराणों का ज्ञाता हूँ; परन्तु छह द्रव्य क्या हैं, पाँच अस्तिकाय क्या हैं, पाँच ज्ञान कौन-से हैं? – यह तो मैंने कभी सुना ही नहीं है, यह तो इस ब्राह्मण के सामने मेरी प्रतिष्ठा जाने का प्रसंग आया। क्यों न इसके गुरु के पास जाऊँ और देखूँ कि वह कौन है ? ऐसा सोचकर इन्द्रभूति ने कहा –

हे वत्स ! तुम्हारे गुरु कौन हैं और कहाँ विराजते हैं ? मैं उनके साथ इस श्लोक पर चर्चा करूँगा।

बस, इन्द्र तो यही चाहते थे। उन्होंने कहा – यह तो बड़े आनन्द की बात है महाराज ! मेरे साथ चलिये ! मेरे गुरु सर्वज्ञ-महावीर हैं और वे राजगृही में विपुलाचल पर विराजते हैं। और इन्द्र के साथ इन्द्रभूति समवसरण की ओर चल पड़े। वाह रे इन्द्रभूति ! जो तत्त्व अपनी समझ में नहीं आया उसे समझने की कितनी गहरी जिज्ञासा है। पाँच सौ शिष्यों के साथ समवसरण की ओर चलते हुए गौतम का अभिमान क्षण-क्षण गल रहा है; उनका अन्तर स्वीकार कर रहा है कि जिस श्लोक का अर्थ मैं नहीं जान पाया, उसे जानने वाले गुरु – महावीर कोई असाधारण ज्ञानवान होंगे ! इसप्रकार उनके अन्तर में हार-जीत की नहीं, किन्तु अपने ज्ञान के समाधान की मुख्यता है। उनकी शंका का तथा अज्ञान का अन्त अब निकट ही है; यहाँ अपूर्वज्ञान की तैयारी है तो सामने अपूर्ववाणी की, – उत्कृष्ट उपादान-निमित का कैसा सुमेल है।

ज्यों ही मानस्तंभ के निकट आये और प्रभु का वैभव देखा, त्यों ही उनका मान विगलित हो गया....उन्होंने महावीर को देखा और देखते ही सर्वज्ञ की तथा जीव के अस्तित्त्व की प्रतीति हो गई। अहा ! ऐसे वैभव में भी प्रभु वीतरागरूप से विराज रहे हैं ! कैसी शान्त है उनकी दृष्टि ! उनके आत्मा की दिव्यता का क्या कहना ! अवश्य ही यह सर्वज्ञ हैं। इसप्रकार गौतम को प्रभु के प्रति परम सम्मान का भाव जागृत हुआ और जीव के अस्तित्त्व सम्बन्धी उनकी सूक्ष्म शंकाएँ दूर हो गईं....**मान का स्थान ज्ञान ने लिया।** निःशल्य हुए गौतम ने विनयपूर्वक अपने पाँच सौ शिष्यों सहित प्रभु का मार्ग अंगीकार किया और नम्रीभूत होकर प्रभु की स्तुति करने लगे –

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

अहा ! कैसा आनन्ददायी होगा वह दृश्य ! वीर प्रभु की दिव्यवाणी छूटती होगी और गौतम गणधर उसे झेलते होंगे। प्रभु की वाणी सुनकर तत्क्षण गौतम-इन्द्रभूति चार ज्ञानधारी श्रुतकेवली हुए और बारह अंगरूप श्रुत की रचना द्वारा

परमात्मा की वाणी का प्रसाद पंचमकाल के भव्यजीवों के लिये संग्रहीत करके रख दिया, जो प्रसाद आज हमें गुरु-परम्परा से प्राप्त हो रहा है।

अहो वीरनाथ ! आपका महान उपकार है; आपके गणधरों का तथा वर्तमान पर्यंत आपकी वाणी द्वारा स्वानुभवपूर्वक मोक्षमार्ग को प्रवाहित रखनेवाले वीतरागी सन्तों का भी महान उपकार है कि जिनके प्रताप से आज ऐसे दु:षम काल में भी हमें आपका मोक्षमार्ग मिल रहा है। वाह, धन्य वीर का शासन....और धन्य उस शासनधारा को अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित रखने वाले सन्तों को !

पश्चात् इन्द्रभूति-गौतम के साथ उनके दो भाई महान विद्वान अग्निभूति, वायुभूति तथा अन्य आठ विद्वान अपने सैकड़ों शिष्यों सहित वीर प्रभु के समवसरण में आये और रत्नत्रयधर्म प्राप्त करके प्रभु के गणधर बने। महावीर तीर्थंकर के कुल ११ गणधर थे। समवसरण की अद्भुत दिव्यता के मध्य रहकर भी निर्मोहरूप से विराजमान वर्धमान सर्वज्ञ सचमुच अलौकिक थे। अहा ! कैसी शान्तमुद्रा ! कैसी वीतरागता ! और कैसा ज्ञानतेज ! वह मुद्रा देखते ही जीवों की शंकाएँ निर्मूल होकर आत्मा के परमस्वरूप की प्रतीति होती थी। वाह ! उन अरिहन्तों की महिमा का क्या कहना, कि जिनका स्वरूप जानने से आत्मा के शुद्धस्वरूप का ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन होता है।

इन्द्रभूति का अद्भुत परिवर्तन देखकर इन्द्र को अपार आनन्द हुआ।....और ब्राह्मण का रूप छोड़कर अपने असली इन्द्र स्वरूप में गौतम गणधर के चरणों में वन्दन किया।

इन्द्रभूति ने परम गम्भीरता से कहा – इन्द्रराज ! अब मैंने जान लिया है कि तुम्हीं ब्राह्मण का वेश धारण करके युक्ति पूर्वक मुझे यहाँ समवसरण में लाये हो, यहाँ आने से मेरा कल्याण हुआ है; मेरी पराजय नहीं, किन्तु विजय हुई है और उसमें मुझे तीन रत्न तथा चार ज्ञान प्राप्त हुए हैं। पहले मैं मिथ्यात्व से पराजित था, अब मैंने मिथ्यात्व को पराजित करके अपने अपार निजवैभव को जीत लिया है। प्रभु महावीर अब मात्र तुम्हारे नहीं, मेरे भी परमगुरु हैं।

शत-इन्द्र-वंदित त्रिजग-हित, निर्मल मधुर उपदेश दे।
नि:सीमगुण जो धारते, जितभव नमूँ जिनराज को।।

अहा ! गौतम गणधर भी जिनकी स्तुति करते हों उन सर्वज्ञ महावीर की महिमा का क्या कहना; हे महावीर देव ! आपके गुण इतने अधिक महान हैं कि यद्यपि छद्मस्थ जीव उनकी स्तुति करते हुए थक जाता है, तथापि मैं आपके गुणों के प्रति सच्ची महिमा के कारण आपकी स्तुति करता हूँ। प्रभो ! आपके अन्तर में उदित हुआ केवलज्ञान सूर्य हानि-वृद्धि से रहित स्थिर है; वह सूर्य की भाँति आताप देनेवाला नहीं, किन्तु आताप हरनेवाला है। आपकी वीतरागी सर्वज्ञता की अचिन्त्य महिमा का चिन्तन हमें राग से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा की अनुभूति कराता है....और सम्यक्त्व सहित महान आनन्द प्रगट होता है। प्रभो ! आपकी यथार्थ प्रतीति का यह महान फल है।

धन्य सर्वज्ञदेव ! आपका प्रभाव कोई अद्वितीय है। स्वानुभूति के बिना आपके अचिन्त्य गुण चिन्तन में नहीं आ सकते। जहाँ आपके अचिन्त्य गुणों को ज्ञान में लेकर उनका चिन्तन करते हैं वहाँ हमारा ज्ञान वैसे आत्मगुणों में एकाग्र हो जाता है और विकल्पों से परे कोई परमशान्त चैतन्यरस अनुभव में आता है। यही है आपकी परमार्थ स्तुति !....यही है आपका पावन पंथ !

जो इन्द्रियों को जीतकर, जाने विशेष निजात्म को।
निश्चय विषें स्थित साधुजन, कहते जितेन्द्रिय उनहि को॥

(इसप्रकार सर्वज्ञस्वभावी अतीन्द्रिय आत्मा की अनुभूति ही सर्वज्ञ की परमार्थ स्तुति है।)

वे सर्वज्ञ महावीर कोई 'अन्तिम तीर्थंकर' नहीं थे। जिसप्रकार जगत में मोक्ष प्राप्त करने वाले जीवों का तथा मोक्षमार्ग का कभी अन्त नहीं है, उसीप्रकार एक के बाद एक अनन्त तीर्थंकरों की परम्परा अनन्त काल तक चलती ही रहेगी। इस चौबीसी के प्रथम और अन्तिम (ऋषभदेव एवं महावीर) तीर्थंकरों के बीच तो असंख्यात् वर्षों का अन्तर था; परन्तु इस चौबीसी के अन्तिम और आनेवाली चौबीसी के प्रथम (महावीर एवं महापद्म) तीर्थंकरों के बीच मात्र ८४००० वर्ष का ही अन्तर है अर्थात् **महावीर प्रभु के मोक्षगमन पश्चात् ८४००० वर्ष में ही राजा श्रेणिक का आत्मा महापद्म तीर्थंकर होंगे। धन्य मार्ग !**

इधर कौशाम्बी नगरी में कुमारी चन्दनबाला वीर प्रभु के केवलज्ञान की प्रतीक्षा करते हुए वैराग्यमय जीवन बिता रही है। बैशाख शुक्ला दशमी के सायंकाल

आकाश में अचानक हजारों-लाखों देव-विमान देखकर उसे आश्चर्य हुआ....वे देव महावीर भगवान का जय-जयकार करते हुए जा रहे थे। चन्दना तुरन्त समझ गई कि मेरे महावीर को केवलज्ञान हो गया है...और उसी का उत्सव मनाने यह देवगण जा रहे हैं। अहा ! मेरे महावीर अब परमात्मा बन गये ! इसप्रकार चन्दना के हर्षानन्द का पार नहीं है। सारे नगर में आनन्द के बाजे बजवाकर उसने प्रभु के केवलज्ञान का मंगल उत्सव मनाया। पश्चात् बड़ी बहिन मृगावती को साथ लेकर वह राजगृही – वीर प्रभु के समवसरण पहुँची....और उन वीतरागी वीर परमात्मा को देखकर स्तब्ध रह गई। राजकुमार महावीर ने जो आत्मानुभूति प्राप्त कराई थी, उसका उसे स्मरण हुआ और तुरन्त वैसी अनुभूति में पुन: पुन: उपयोग लगाकर अन्तर की विशुद्धता को बढ़ाया। प्रभु की स्तुति की, गौतम स्वामी आदि मुनिवरों को वन्दन किया और प्रभु चरणों में आर्यिका के व्रत धारण किये....कोमल केशों का लोंच किया, राजसी परिधान छोड़ दिये और एक श्वेत परिधान में वैराग्य से सुशोभित हो उठी। अभी कुछ दिन पूर्व भी सिर मुँड़ाए बन्धन में पड़ी थी....और आज स्वेच्छा से सिर मूँड़कर वह मोक्षमार्ग में प्रयाण कर रही है।

कहाँ वह कारागृह और कहाँ यह समवसरण – धर्मसभा ! उन दोनों संयोगों से विभक्त तथा निजगुणों से एकत्व – ऐसे निजस्वरूप का वह अनुभवन करती थी। वीर प्रभु की धर्मसभा में विद्यमान ३६००० आर्यिकाओं के संघ की वे चन्दनामाता अधिष्ठात्री थीं। कहाँ भील द्वारा अपहरण और कहाँ वीर प्रभु की शरण ! कहाँ वेश्या के हाथों बाजार में बिकने का प्रसंग और कहाँ ३६००० आर्यिकाओं में अधिष्ठात्री-पद ! वाह रे उदयभाव तेरा खेल ! परन्तु धर्मात्मा का चैतन्यभाव अब तेरे विचित्र जाल में नहीं फँसेगा, वह तो सर्व प्रसंगों में तुझसे अलिप्त अपने चैतन्यभाव में ही रहेगा....और मोक्ष को साधेगा।

भारत में २४वें तीर्थंकर भगवान महावीर से पूर्व २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का शासन चल रहा था; अहिंसाधर्म की महिमा फैल रही थी। भगवान महावीर ने भी वह बात प्रचारित की – **कि राग से भिन्न आत्मा के अनुभव द्वारा ही अहिंसाधर्म का पालन हो सकता है; क्योंकि राग स्वयं हिंसा है, इसलिये जो जीव जितना राग में वर्तता है उतना वह हिंसा में ही वर्त रहा है। जिसमें राग नहीं है ऐसे ज्ञान की अनुभूति वह परम अहिंसाधर्म है और उससे मोक्ष**

की प्राप्ति होती है। ऐसे अहिंसाधर्म के उपदेशक प्रभु महावीर ने विपुलाचल से विहार करके भारतभूमि को पावन किया। जहाँ वे पधारते वहाँ अहिंसामय शान्त वातावरण हो जाता था। सर्प और नेवले जैसे विरोधी जीव भी एक दूसरे के मित्र बन जाते थे। सिंह और गाय, शेर और खरगोश....सब भयरहित होकर एक साथ बैठते थे....और वीरवाणी का अमृत-पान करते थे।

प्रभु ने अनेकान्त तत्त्व का स्वरूप समझाया – जीव अतीन्द्रिय चेतनतत्त्व है, वह जड़ से भिन्न है। चेतन और जड़ प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वधर्म में स्थित हैं। एक ही वस्तु का एक साथ अपने अनेक धर्मों में तन्मयरूप से रहना सो 'अनेकान्त' है। एक ही आत्मा ज्ञान में है, वही दर्शन में है, वही सुख में है, वही गुण-द्रव्य में है, वही पर्यायों में है; वही आत्मा अस्तित्वधर्म में है, वही नास्तित्वधर्म में है; – इसप्रकार अनन्त स्वधर्मों में व्यापक आत्मा अनेकान्त स्वरूप है। उसे जानने से आत्मा का अनन्त निजवैभव जानने में आता है। इसप्रकार अनेकान्तमय आत्मवैभव बतलाकर भगवान ने प्रत्येक जीव को भगवानपना ही बताया....अनन्त निजवैभव बताया....मोक्षमार्ग बताया....धर्म बताया।

प्रभु महावीर जब तीर्थंकर रूप में विचर रहे थे, उन दिनों राजगृही मगध देश की राजधानी थी और वहाँ राजा श्रेणिक राज्य करते थे। यद्यपि प्रभु वर्धमान (वड्ढमाण) सौराष्ट्र आदि अनेक देशों में विचरे थे, परन्तु मगध देश के निकटस्थ प्रदेशों में उनका 'विहार' इतना अधिक हुआ कि वह प्रदेश ही विहार (बिहार) के नाम से प्रसिद्ध हो गया। पहले तो वैशाली और मगध दोनों राज्य एक-दूसरे के शत्रु थे और परस्पर युद्ध भी करते थे; परन्तु वीतराग महावीर को क्या ? उनका कौन शत्रु और कौन मित्र ? उन्होंने तो अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन मगध की राजधानी से प्रारम्भ किया। क्रोध द्वारा जिन्हें नहीं जीता जा सकता था उन्हें उन्होंने वीतरागता द्वारा जीत लिया।

एकबार प्रभु महावीर राजगृही के वैभारगिरि पर पधारे। परमात्मा महावीर को और साथ में अपनी लाड़ली बहिन चन्दना को देखकर महारानी चेलना के आनन्द का पार नहीं रहा। महाराजा श्रेणिक भी साथ थे। सर्वज्ञ महावीर को देखकर वे भी स्तब्ध रह गये। वाह ! मेरे इष्ट देव ! धन्य आपकी वीतरागता ! धन्य आपका अचिन्त्य धर्मवैभव !

जब श्रेणिक राजा भव्य शोभायात्रा सहित हाथी पर बैठकर प्रभु के दर्शन करने जा रहे थे, तब एक मेंढ़क भी उनके साथ कमल की पंखुरी लेकर चल रहा था। (वह नागदत्तसेठ का जीव था।) मार्ग में हाथी के पाँवतले कुचल जाने से वह मेंढ़क मर गया और प्रभु की पूजा के भावसहित मरकर देव हुआ। देवगति को प्राप्त वह जीव तुरन्त वीर प्रभु के समवसरण में आया, उसकी कथा जैनधर्म में प्रसिद्ध है।

आज श्रेणिक राजा के आनन्द का पार नहीं है। अहा! सर्वज्ञ परमात्मा मेरी नगरी में पधारे....मैं धन्य हुआ। अपनी बड़ी बहिन (त्रिशला) के लाड़ले पुत्र को सर्वज्ञ परमात्मा रूप में तथा छोटी बहिन चन्दनबाला को आर्यिका के रूप में देखकर रानी चेलना का हृदय भी हर्षोल्लास से भर गया और वीर प्रभु की दिव्यध्वनि सुनकर चैतन्यरस की धारा उल्लसित हुई। राजा श्रेणिक तो चैतन्यरस में ऐसे सराबोर हुए कि प्रभु के पादमूल में ही दर्शनमोह की सातों कर्म प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया; उनके ज्ञान की निर्मलता बढ़ गई; व्रत चारित्र तो उन्होंने नहीं लिये, परन्तु दर्शनविशुद्धि प्रधान सोलह कारण भावना भाते-भाते तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति का बाँधना प्रारम्भ किया। इस भरतक्षेत्र के ही दो तीर्थंकर....उनमें अवसर्पिणी के अन्तिम तीर्थंकर के चरणों में उत्सर्पिणी के होनेवाले प्रथम तीर्थंकर ने तीर्थंकर नामकर्म बाँधा....और अब मात्र ८२५०० वर्ष पश्चात् वह आत्मा इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर के रूप में उत्पन्न होगा।

अहा! राजगृही के वैभारगिरि पर धर्मवैभव का महान आनन्दोत्सव चल रहा है। वर्तमान एवं भावी दोनों तीर्थंकरों को एकसाथ देखकर जीव आनन्दित हो रहे हैं। गणधर-मुनिवर भी उन भावी तीर्थाधिनाथ को मधुरदृष्टि से देखकर आशीर्वाद की वर्षा करते हैं। अरे, तिर्यंच भी प्रभु की वाणी से श्रेणिक राजा की महिमा सुनकर आश्चर्य एवं भक्ति सहित उनकी ओर निहार रहे हैं। 'धन्य भाग्य से हमें भावी तीर्थंकर के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। यह भावी तीर्थंकर जिस सभा में बैठकर प्रभु की वाणी सुन रहे हैं, हम भी उसी सभा में उन भावी तीर्थंकर के साथ बैठकर वीर प्रभु की वाणी सुन रहे हैं....हम भी उन तीर्थंकरों के मार्ग से अवश्य मोक्ष में जायेंगे।'

श्रेणिक राजा ने एक ओर तो ऐसा जाना कि यहाँ से मरकर मैं स्वयं प्रथम नरक में जाऊँगा; उसी समय दूसरी ओर ऐसा जाना कि एक भव पश्चात् स्वयं त्रिलोकपूज्य

तीर्थंकर होऊँगा। परस्पर विरुद्ध दोनों बातें सुनकर उन धर्मात्मा को कैसी अनुभूति हुई होगी ? क्या नरकगति के शोक से वे खेद-खिन्न हुए होंगे ? अथवा तीर्थंकर होने के उल्लास में हर्ष से नाच उठे होंगे ?....नहीं, उन धर्मात्मा की चेतना तो हर्ष या खेद दोनों से परे अलिप्त ही रहकर मोक्ष की ही साधना में लगी रही। वाह, बलिहारी है ज्ञानी की ज्ञानचेतना की !

हर्ष-शोक से पार, ज्ञानी जीव रहें सदा।
जो चाहो सुख-शान्ति, साधो ज्ञानस्वभाव को॥

अहो ! वीरनाथ के समीप चैतन्य की विशुद्धता के बल से नरक के पाप भी मानों धुल गये हों – इसप्रकार श्रेणिक राजा तो चेतनरस के वेदन में ही तत्पर थे। वीर प्रभु के प्रति परम उपकार के सूचक हर्षाश्रु उनकी आँखों से झर रहे थे।

अरे, देखो तो सही, जीव के परिणाम का परिवर्तन ! कहाँ एक समय मुनि की विराधना के क्रूर परिणाम ! और कहाँ इस समय तीर्थंकर प्रकृति के योग्य विशुद्धपरिणाम ! कहाँ उससमय का मिथ्यात्व और कहाँ आज का क्षायिक सम्यक्त्व एक ही जीव के जीवन में कैसे-कैसे परिवर्तन आते हैं ! वाह, जिनशासन! सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप बतलाने वाला तेरा उपदेश हमें वीतरागता ही कराता है। नरकगामी भी वही....और किंचित् दीर्घदृष्टि से देखें तो मोक्षगामी भी वही। अहा ! जीव के परिणामों की शक्ति तो देखो, चाहे जैसा पापी या विराधक जीव भी सीधा चले तो क्षण में धर्मी होकर मोक्ष का साधक बन जाता है। इसका उदाहरण एक इन्द्रभूति-गौतम गणधर और दूसरे श्रेणिक राजा-भविष्य में होनेवाले तीर्थंकर।

क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त श्रेणिक राजा ने अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द के तार झंकृत करके वीरनाथ प्रभु की भक्ति की। उससमय एक ओर उनके पुराने कर्म शीघ्रता से खिर रहे थे तो दूसरी ओर तीर्थंकर प्रकृति बँध रही थी; यद्यपि उससमय 'मैं कर्म से बंधूँ' – ऐसी इच्छा उनको नहीं थी; परन्तु राग के अपराधवश बन्धन हो रहा था। महावीर तो पूर्व में बाँधे हुए तीर्थंकर नामकर्म को छोड़ रहे हैं और श्रेणिक तीर्थंकर नामकर्म को बाँध रहे हैं....मानों एक तीर्थंकर के पास से तीर्थंकर प्रकृति के परमाणु दूसरे तीर्थंकर के पास जा रहे हों ! 'यह वीर प्रभु तो अब हमें छोड़कर निष्कर्म होकर मोक्ष में जाएँगे' – ऐसा समझकर उन कर्मों ने अपने रहने

के लिए दूसरा घर ढूँढ़ लिया....और महावीर के पास से निकल कर श्रेणिक के पास आ गये। – इसप्रकार तीर्थंकरत्व का अविच्छिन प्रवाह जगत में चलता ही रहता है।

इसप्रकार इन्द्रादि देवों द्वारा पूजित एवं भव्यजीवों को मोक्षमार्ग दर्शाते हुए गगनगामी महावीर तीर्थंकर विचर रहे थे। राजगृही से विहार करके प्रभु वैशाली की ओर चलने लगे। बीच में गंगानदी पार करने के लिये उन्हें पुल की या नौका की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि प्रभु तो अब गगनविहारी हो गये थे। वैशाली वीर प्रभु की जन्मभूमि ! वहाँ माता त्रिशला और पिता सिद्धार्थ बारह वर्ष से परमप्रिय वीरनाथ के दर्शनों को आतुर थे। परमात्मा वीरनाथ वैशाली में पधारे और अद्भुत समवसरण के बीच विराजमान उन परमात्मा को देखकर माता त्रिशला के अन्तर में आनन्दोर्मियाँ जाग उठीं – मेरा लाल केवलज्ञानरूपी जगत् श्रेष्ठ अमूल्य रत्न लेकर आया, परमात्मा बनकर हमें दर्शन देने आया। वैशाली की समस्त प्रजा अपने लाड़ले राजकुमार को एक परमात्मा के रूप में देखकर परमहर्षित हुई और महा-महोत्सव किया। जिन्होंने महावीर को बचपन में क्रीड़ा करते देखा था, मुनिरूप से आत्मसाधना करते देखा था और अब सर्वज्ञदशा में परमात्मारूप में देखा,....उन वृद्धजनों को ऐसा लगा कि अरे, कुछ वर्ष पूर्व जो हमारे साथ पृथ्वी पर चलते-फिरते मनुष्य थे वे देखते ही देखते परमात्मा बन गये !.... कैसी अजब है आत्मशक्ति ! **'आत्मा में ही परमात्मशक्ति है।'**

– इसप्रकार सर्वज्ञ महावीर को देखते ही अपनी आत्मशक्ति की प्रतीति करके अनेकों जीव परमात्मा बन गये ! प्रभु ने दिव्यध्वनि द्वारा **'प्रत्येक जीव में परमेश्वरता'** की प्ररूपणा की। अहा ! प्रत्येक आत्मा परमात्मवैभव से परिपूर्ण है और वह स्वाधीनरूप से परमात्मा हो सकता है – ऐसी महान बात परमेश्वर के अतिरिक्त कौन बतला सकता है ? और उसे झेलने वाले कोई साधारण जीव नहीं किन्तु 'जिनेश्वर के नन्दन' होते हैं; मोक्ष के पंथी होते हैं।

अहा, वीर का ऐसा सुन्दर राग रहित मार्ग ! उसमें जीवों को जगत की कोई सम्पदा ललचा नहीं सकती, अथवा कोई विपदा डरा नहीं सकती। हे वीर ! आपका मार्ग वह वीरों का मार्ग है; वीतरागता का मार्ग है। वीतरागता में निहित सच्ची वीरता को आपके भक्तों के सिवा और कौन समझेगा ?

लोग कहते हैं कि आकाश में पुष्प नहीं होते; परन्तु ऐसा कहने वालों ने प्रभु के श्रीविहार को नहीं देखा। आकाशगामी प्रभु जहाँ भी विचरते हैं वहाँ उनके चरणों के नीचे २२५ अद्भुत कमलों की रचना हो जाती है...मानों आकाश में पुष्प-वाटिका खिली हो ! और प्रभु के प्रताप से भव्यजीवों के चैतन्याकाश में भी रत्नत्रय के पुष्प खिल उठते हैं।

राग अलंकार या वस्त्ररहित होने पर भी उन सर्वज्ञ प्रभु की सुन्दरता का क्या कहना !....और देखो तो सही, जड़-पुद्गल भी मानों प्रभु की आश्चर्यमय सुन्दर सर्वज्ञता की प्रतिस्पर्धा करना चाहते हों, तद्नुसार वे भी जगत में सर्वश्रेष्ठ आश्चर्यजनक पौद्गलिक सुन्दरतारूप से परिणमित हो रहे हैं। एक ओर वीतरागी सर्वज्ञता द्वारा चैतन्य की सर्वोत्तम सुन्दरता तथा दूसरी ओर परम औदारिकता द्वारा शरीर-पुद्गलों की सर्वोत्तम सुन्दरता !....वाह ! चेतन और जड़ दोनों के सौन्दर्य की पराकाष्ठा ! – ऐसी सुन्दरता सर्वज्ञप्रभु के सिवा अन्यत्र कहाँ होगी ?

रे शरीर ! तूने भले प्रभु के सान्निध्य में सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य धारण कर लिया; परन्तु तुझे यह खबर नहीं है कि प्रभु की सर्वज्ञता का चैतन्य सौन्दर्य तो अनन्तकाल तक ज्यों का त्यों बना रहेगा, जबकि तेरा सौन्दर्य तो क्षणभंगुर है। प्रभु तुझे छोड़कर मोक्ष जायें – इतनी ही देर है !

यह सुनकर शरीर मानों हँसकर कहता है – अरे भाई ! इन सर्वज्ञ परमात्मा का क्षणभर का सान्निध्य भी कम है क्या ? सत्पुरुषों के एक क्षणमात्र से सहवास का भी कितना महान फल है,....वह क्या तुम नहीं जानते ?

लाखों धर्मात्मा जीवों का परिवार वीर प्रभु के संघ में मोक्ष की साधना कर रहा था। ७०० केवलज्ञानी अरिहन्त भगवन्त वहाँ धर्मसभा में विराजते थे; जो गुणों में प्रभु के समकक्ष थे। तदुपरान्त ऋद्धिधारी १४००० मुनिराज थे; चन्दना सहित ३६००० आर्यिकाएँ थीं; आत्मज्ञान सहित देशव्रतधारी एक लाख श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएँ थीं; देव और तिर्यंच भी प्रभु की वाणी सुनते और सम्यक्त्वादि धर्म प्राप्त करते थे। वहाँ धर्म का साम्राज्य था। उस धर्म-साम्राज्य के नायक थे धर्मराजा भगवान महावीर। आज हम भी उसी महावीर-साम्राज्य के उत्तराधिकारी हैं और प्रभु के मार्ग की साधना करते हुए उस पथ पर चल रहे

हैं....धन्य है यह धर्म साम्राज्य !....धन्य हमारे धर्मराजा ! और धन्य यह धर्मपालक प्रजा ! महावीर हमारे हैं, हम महावीर के हैं।

बौद्धधर्म के संस्थापक गौतमबुद्ध भी महावीर प्रभु के समकालीन थे; और वे सर्वज्ञ महावीर के प्रशंसक थे। तीस वर्ष तक धर्मचक्र सहित विहार करते-करते अन्तिम दिनों में प्रभु महावीर बिहार प्रान्त की पावापुरी में पधारे; वहाँ का सुन्दर उद्यान खिल उठा। भव्यजीवों का चैतन्य-उद्यान भी सम्यक्त्व आदि धर्म पुष्पों से आच्छादित हो गया। कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन प्रभु की अन्तिम देशना हुई। (उस अन्तिम देशना के स्थान पर वहाँ एक प्राचीन जिनमन्दिर है और उसमें वीर प्रभु के चरणों की स्थापना है। निर्वाण भूमि के स्थान पर आज 'पद्म-सरोवर' है, उसके प्रवेशद्वार के सामने के भाग में अन्तिम देशना-भूमि के स्थान का होना दिगम्बर जैन-परम्परा में माना जाता है।)

प्रभु महावीर ने विपुलाचल पर प्रथम देशना में जो परमात्मतत्त्व दर्शाया था, वही परमात्मतत्त्व अन्तिम देशना में पावापुरी में बतलाया। प्रभु की वाणी द्वारा परमशान्त चैतन्यरस का पान करके लाखों-करोड़ों जीव तृप्त हुए। गणधर गौतमदेव भी उत्कृष्ट रूप से वीतरागरस का पान करके केवलज्ञान प्राप्त करने को तत्पर हैं। अहा ! तीर्थंकर प्रभु ने सिद्धपद की तैयारी की तो गणधर देव ने भी अरिहन्त पद की तैयारी की....तथा प्रतिगणधरदेव (सुधर्म स्वामी) श्रुतकेवली होने को तैयार हैं। धन्य भगवन्त ! आपने पंचमकाल में धर्म की अविच्छिन्नधारा प्रवाहित रखी।

निर्वाण कल्याणक : महावीर प्रभु

अभी पंचमकाल का प्रारम्भ होने में तीन वर्ष आठ मास तथा पन्द्रह दिन का समय शेष था। चौथा काल चल रहा था। प्रभु महावीर का विहार थम गया; वाणी का योग भी मोक्षगमन के दो दिन पूर्व (धन्यतेरस से) रुक गया। प्रजाजन समझ गये कि अब प्रभु के मोक्षगमन की तैयारी है। प्रत्येक देश के राजा तथा लाखों प्रजाजन भी प्रभु के दर्शनार्थ आ पहुँचे। परम वैराग्य का वातावरण छा गया। भले ही वाणी बन्द हो गई थी, तथापि प्रभु की शान्तरस झरती मुद्रा देखकर भी अनेक जीव धर्म प्राप्त करते थे।

गौतम गणधरादि मुनिवर ध्यान में अधिकाधिक एकाग्र हो रहे थे। प्रभु की उपस्थिति में प्रमाद छोड़कर अनेक जीवों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की

आराधना प्रारम्भ कर दी। इसप्रकार कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी तथा चतुर्दशी को दो दिन देवेन्द्रों तथा नरेन्द्रों ने सर्वज्ञ महावीर तीर्थंकर की अन्तिम महापूजा की, मोक्ष-महोत्सव का महान मेला लग रहा था....संसार को भूलकर सब मोक्ष की महिमा में तल्लीन थे। चतुर्दशी की रात्रि हुई, अर्धरात्रि भी बीत गई और....पिछले प्रहर (अमावस्या का प्रभात उदित होने से पूर्व) वीरनाथ सर्वज्ञ प्रभु तेरहवाँ गुणस्थान लाँघकर चौदहवें गुणस्थान में अयोगीरूप से विराजमान हुए। यहाँ आस्रव का सर्वथा अभाव एवं संवर की पूर्णता हुई। परमशुक्लध्यान (तीसरा एवं चौथा) प्रगट करके शेष अघाति कर्मों की सम्पूर्ण निर्जरा प्रारम्भ कर दी और क्षणमात्र में प्रभु सर्वज्ञ महावीर मोक्षभावरूप परिणमित हुए....तत्क्षण ही लोकाग्र में सिद्धालयरूप मोक्षपुरी में पहुँचे। आज भी वे सर्वज्ञ परमात्मा वहाँ शुद्ध स्वरूप अस्तित्व में विराज रहे हैं....उन्हें हमारा नमस्कार हो !

इसी विधि से सब कर्मों को हन वे वीरप्रभु सर्वज्ञ बने।
इस विधि से दे उपदेश बने वे सिद्ध करूँ मैं नमन उन्हें॥
श्रमण जिन अरु तीर्थंकरों ने इसी मार्ग का कर सेवन।
सिद्धि प्राप्त की करूँ नमन मैं उनको अरु उनके निवृतिपथ को॥

पावापुरी में वीरप्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए और कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की अंधेरी रात भी मोक्षकल्याणक के दिव्य प्रकाश में जगमगा उठी....लाखों भक्तों ने करोड़ों दीपकों की आवलियाँ सजाकर प्रभु के मोक्ष कल्याणक का उत्सव मनाया; इसलिये कार्तिक कृष्णा अमावस्या दीपावली पर्व के रूप में प्रसिद्ध हुई।....जो आज भी भारत में प्रसिद्ध है। उस निर्वाण-महोत्सव को २५०० वर्ष पूरे हुए तब (ई.स. १९७४ में) समग्र भारत में अतिभव्य उत्सव मनाया गया था और इस महापुराण का लेखन कार्य भी उस निर्वाण-महोत्सव के निमित्त एवं पू. गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की प्रत्यक्ष प्रेरणा से हुआ है।

भगवान महावीर तो निर्वाण को प्राप्त हुए, सिद्ध हुए....अहो ! उन सिद्ध भगवन्तों का अतीन्द्रियज्ञान, इस महापुराण द्वारा मैं उस परमइष्ट पद का गुणगान करता हूँ और मेरा आत्मस्वभाव ऐसा ही है – उसे स्वीकार करके मैं भी प्रभु के मार्ग पर चलता हूँ और इष्टपद प्राप्त करता हूँ। मोक्ष के कारणरूप ऐसे भगवान महावीर को नमस्कार हो !

नमन करता उन जिनेश्वर देव को, धर्मचक्र चला गये शिव गेह जो।
गये पावापुरी से निर्वाण को, सन्त-मुनि-गणधर नमें कल्याण हो॥

वीर प्रभु पंचमगति को प्राप्त करके सिद्ध हुए, मुक्त हुए; यह तो आनन्द का प्रसंग है, शोक का नहीं।

किसी को प्रश्न उठ सकता है कि अरे, निर्वाण होने पर तो भगवान का विरह हुआ, फिर उसका उत्सव क्यों ?

समाधान – अरे भाई ! तुम बाह्य चक्षुओं से देखते हो इसलिये तुम्हें ऐसा लगता है कि भगवान का विरह हुआ। जो इन्द्रियज्ञान द्वारा 'शरीर युक्त महावीर' को ही देखते थे उन्हें उन शरीरवान महावीर का विरह हुआ; परन्तु जो शरीर से भिन्न भगवान महावीर के सच्चे स्वरूप को अर्थात् 'सर्वज्ञ-महावीर' को अन्तर्दृष्टि से – अतीन्द्रिय चक्षु से पहिचानते हैं, उन्हें तो उन सर्वज्ञ परमात्मा का कभी विरह नहीं है; उनके लिये तो वे भगवान लोकाग्र में सिद्धरूप से साक्षात् विराजमान हैं। पावापुरी में २५०० वर्ष पूर्व जो 'सर्वज्ञ परमात्मा' विराजते थे, वे ही वर्तमान में सिद्धपुरी में विराज रहे हैं। जिस साधक के ज्ञान में उन सिद्ध भगवन्त का स्वरूप उत्कीर्ण हो गया है, उसे सर्वज्ञ महावीर का विरह नहीं है....नहीं है; सर्वथा अतीन्द्रिय ऐसे उन परमात्मा को अपने ही आत्मा में स्थापित करके वह अपने आत्मा को सिद्ध की साधना में लगाता है....और ऐसी साधना का उत्साह ही निर्वाण का महोत्सव है....आत्महित का ऐसा मंगल-महोत्सव कौन नहीं मनायेगा ?

देखो न, वीर प्रभु के निर्वाण के समय गौतमस्वामी कहीं प्रभुविरह का विलाप करने नहीं बैठे थे; किन्तु चैतन्य की अनुभूति में अधिक गहरे उतरकर मोक्ष की साधना में मग्न हो गये थे। ३० वर्ष तक जिनके सतत् सान्निध्य में रहा। – ऐसे मेरे प्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए और मैं अभी छद्मस्थ ही रहा ?....अब आज ही साधना पूर्ण करूँगा – इसप्रकार उत्कृष्टरूप से आत्मा की आराधना में लीन होकर उसी दिन केवलज्ञान प्रगट किया और सर्वज्ञ परमात्मा हुए।

पूर्ण वीतरागी होकर उन्होंने सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रभु का निर्वाण महोत्सव मनाया।

उनके शिष्य सुधर्मस्वामी उसी दिन श्रुतकेवली बने। अहा ! नमस्कार हो उन केवली तथा श्रुतकेवली भगवन्त को ! पश्चात्, तीर्थंकर प्रभु की वह कुल परम्परा

चलते....चलते श्रीगुरुओं द्वारा हम तक आयी है; हम भी उसी कुल-परम्परा में हैं। कृतार्थ हो गये हम सब महावीर के मार्ग को पाकर। अपने तीर्थंकर भगवन्तों के मार्ग की उपासना करके हम सब अपना कल्याण करें और अपने उन भगवन्तों के सिद्धालय में पहुँचकर सदैव उनके साथ रहें....ऐसी मंगल भावना के साथ यह भागवत पुराण पूर्ण करता हूँ।

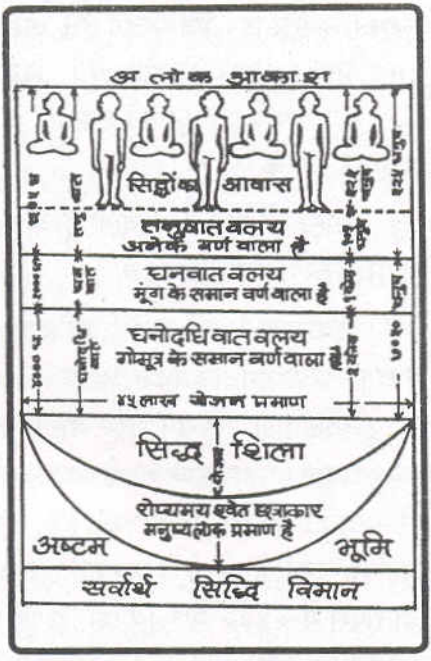

– इसप्रकार भरतक्षेत्र के अन्तिम तीर्थंकर एवं वर्तमान शासन नायक सर्वज्ञ भगवान महावीर तीर्थंकर का मंगल जीवन चरित्र पूर्ण हुआ।

अनन्त तीर्थंकर हुए, जग के तारणहार।
सिद्ध दशा को साधकर, पहुँचे भवदधि पार॥
शासन वीर जिनेन्द्र का, अक्षयपद दातार।
सेवन कर समकित लहो, जो चाहो भवपार॥

अपने चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का मंगल जीवन बताने वाला यह 'महापुराण' भव्यजीवों में जिनमार्ग के प्रति भक्ति जागृत करे, रत्नत्रय की प्राप्ति कराए और मोक्षसुख में स्थापित करे – यही मंगल भावना है।

जय महावीर !

जो जानता महावीर को....

इस एक ही चौबीसी में महावीर के एक ही जीव ने अपने विविध परिणामों वश कैसी-कैसी विशिष्ट पर्यायें धारण की, उनका ज्ञान अद्भुत वैराग्य जागृत करता है और बंध-मोक्ष के भावों का भेदज्ञान कराता है।

अनन्त काल की बात तो दूर रही, इस वर्तमान मात्र एक ही चौबीसी में (चतुर्थकाल में) ही तीर्थंकर के उसी जीव ने स्वर्ग, नरक, तिर्यंच तथा मनुष्य चारों गति के भवसहित एकेन्द्रिय-निगोद के भव भी असंख्य बार किये और अन्त में उस जीव ने मोक्षपर्याय प्राप्त की।

- आदि तीर्थंकर का पौत्र होकर फिर स्वयं भी अन्तिम तीर्थंकर हुआ।
- प्रथम चक्रवर्ती का पुत्र होकर फिर स्वयं भी चक्रवर्ती हुआ।
- मुनि होकर स्वर्ग में गया और अर्धचक्री होकर नरक में भी गया।
- सिंह होकर माँस भक्षण भी किया और तीर्थंकर होकर परम अहिंसाधर्म का उपदेश भी दिया।
- नरक-निगोद के दु:ख भी भोगे और मोक्षसुख भी प्राप्त किया। तीव्र मिथ्यात्वादि भावों का सेवन करके मिथ्यामार्गों का उपदेश भी दिया और क्षायिक सम्यकत्वादि प्राप्त करके रत्नत्रय धर्म के उपदेश द्वारा उन मिथ्यामार्गों का खण्डन भी स्वयं किया।

हे देव! उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप अनेकान्त तत्त्व बिना ऐसा किस प्रकार हो सकता है ?

हे वीरनाथ! आपका जीवन तथा आपका इष्टोपदेश 'अनेकान्तमय' है; उसे जानकर और उसी से अपने आत्मा का भी सत्य स्वरूप समझकर हम आपके मंगल मार्ग से मोक्षपुरी में आ रहे हैं....उस मोक्ष के मंगल उत्सव के निमित्त ही आपकी यह मंगल कथा लिखी है....यह भव्यजीवों का कल्याण करे!

एक ही जीव

सिंह के भव से पूर्व

१. नरक में निरन्तर, भूख-प्यास की भयंकर पीड़ा तथापि अनाज का एक कण या पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती।

२. नरक में धधकती हुई लोह पुतलियों के साथ जबरन् लिपटाकर अग्नि में जलाते हैं।

३. नरक में धधकती वैतरणी नदी की अतिदुर्गन्ध।

४. नरक में वृक्ष (सेमरवृक्ष) ऐसे हैं कि जिनकी छाया में बैठने से उसके तलवार जैसे पत्तों से शरीर विंध जाता है।

५. नरक में तीर्थंकर या मुनिवरों के दर्शन का सदा अभाव।

सिंह के भव के पश्चात्

१. स्वर्ग में दो हजार वर्ष में आहार की इच्छा होती है और कण्ठ में अमृत का स्वाद आता है।

२. स्वर्ग में सुन्दर देवांगनाएँ हैं, जिन्हें स्नेह से आलिंगन करते हैं।

३. स्वर्ग में अमृत के सरोवर में सुगन्धित जलस्नान।

४. स्वर्ग में ऐसे कल्पवृक्ष हैं, जो अनेक प्रकार की वांछित दिव्य भोग सामग्री देते हैं।

५. स्वर्ग में जब भी इच्छा हो, तब तीर्थंकर प्रभु के समवसरण में जा सकते हैं।

(दोनों का भोक्ता एक ही जीव; बीच में कुछ ही वर्षों का अन्तर)

कहाँ वे पाप के फल और नरक के दुःख, कहाँ यह पुण्यफल और स्वर्ग के सुख !

शास्त्रकार कहते हैं कि दोनों संयोगों से आत्मा भिन्न है; पुण्य-पाप दोनों कर्मों से आत्मा भिन्न; तथा उनके कारणरूप शुभाशुभ परभावों से भी भिन्न; ऐसे ज्ञानस्वरूपी आत्मा की अनुभूतिरूप ज्ञानचेतना से ही मोक्षसुख की प्राप्ति एवं भवदुःख से छुटकारा होता है।

(अपने चरित्रनायक का जीव ऐसी ज्ञानचेतना प्राप्त करके स्वर्ग में हरिकेतु देव हुआ है।)